

तू किरण नहीं सूर्य है



देवगति



मनुष्यगति



तिर्यचगति

रत्नत्रय की महिमा
नोकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्म रहित शुद्धात्मा



नरकगति
नित्य निगोद



प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल एवं अखिल भारतीय जैन युवा फ़ेडरेशन, खतौली ।

द्वितीय संस्करण

प्रथम संस्करण की समस्त प्रतियाँ प्रकाशनोपरान्त ही आत्मारथी बन्धुओं के पास पहुँच गई तथा विभिन्न स्थानों से इस कृति की मांग हमारे पास आ, जो इसमें संकलित कहानियों के सर्वोपयोगी होने का सफल प्रमाण है। अतः इस कृति के द्वितीय संस्करण का प्रकाशन भाषा को परिमार्जित कर, मुख्य पृष्ठ को आकर्षित बनाकर रत्नत्रय की महिमा एवं फल तथा चतुर्गति की निस्सारता प्रगट कर, तू किरण नहीं सूर्य है की प्रेरणा देते हुए नामकरण के अनुकूल बनाते हुए जीव द्रव्य की महिमा मण्डित की गई है। फिर भी यदि कोई कमी हो तो विज्ञ पाठक हमें सूचित करें जिससे अगले संस्करण में सुधार कर सके।

रमेश चन्द जैन
मंत्री

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, खतौली।

संकलनकर्ता एवं लेखक : बाबूलाल जैन
सन्मति विहार,
2/10 अन्सारी रोड, दरिया गंज, दिल्ली।

सम्पादक : डा० वीरसागर जैन, दिल्ली।

प्रथम संस्करण : 3200
: 14 जौलाई 1992, अष्टान्हिका पर्व

द्वितीय संस्करण : 5100
: 14 सितम्बर 1999, दशलक्षण महापर्व

समूह राशि आठ: २५५५

प्राप्ति स्थान : रमेश चन्द जैन : प्रिंस जनरल स्टोर
'ज्ञायक सदन' बड़ा बाजार, खतौली
333, जैन नगर, फोन नं. (01396) 73795
खतौली 251 201
मुजफ्फरनगर, (उ०प्र०)
: जैन जाग्रति सत्साहित्य विक्रय केन्द्र
32, तगान स्ट्रीट, खतौली
फोन नं. (01396) 72666

दो शब्द

हस्तिनापुर की परिधि में स्थित खतौली नगरी आरम्भ से ही धर्मनगरी रही है। यहां भूगर्भ से प्राप्त श्री शान्तिनाथ, श्री कुन्धुनाथ एवं अरनाथजी की प्राचीन निशियां जी के साथ 8 भव्य जिनालय हैं। इस नगरी को पू. गणेश प्रसादजी वर्णी एवं पू. भगीरथजी वर्णीजी का आशीर्वाद प्राप्त है। जिनशासन की प्रभावना का महत्वपूर्ण प्रसंग सन् 1933 में आर्यसमाजी कर्मानन्दजी के साथ हुआ वाद-विवाद है, जिससे प्रभावित होकर उन्होंने सन् 1938 में जैनधर्म अंगीकार कर लिया था।

यहाँ आत्मारथी भाई मलजीमल, धर्मदासजी, उग्रसैनजी, बिसम्बर दासजी, भैया त्रिलोक चन्दजी, प्रकाश चन्दजी, हुकुम चन्दजी, नाहर सिंहजी, मामचन्दजी एवं आत्मारथी विदुषी बहिन महादेवीजी आदि तत्वज्ञानी हुए हैं।

सन् 1975 में श्री महावीर जयन्ती के उपलक्ष में होने वाले पंच दिवसीय कार्यक्रमों में जयपुर से तार्किक विद्वान डा० हुकुम चन्दजी भारिल्ल अपनी मण्डली के साथ पधारे, उनके सानिध्य में यहां अ.भा.जैन युवा फेडरेशन की स्थापना हुई तथा जैन सांस्कृतिक मंडल द्वारा संचालित पाठशाला को सुचारुरूप से चलाने का बीड़ा भी फेडरेशन के मंत्री मा. रमेश चन्दजी ने उठाया जिसमें 100-100 बच्चे धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने लगे और पं. प्रदीपजी शास्त्री आदि जैसे विद्वान तैयार हुए। आबाल-गोपाल सभी के लिए सभी सैद्धान्तिक विषयों का ज्ञान अनेक कक्षाओं के माध्यम से प्रवाहित कर युवकों में धर्म रुचि उत्पन्न की गई। शाखा के माध्यम से पर्यूषण पर्व पर प्रवचनों की व्यवस्था एवं अष्टान्हिका पर्व पर विधान के आयोजन स्थानीय स्तर पर अथवा तीर्थ क्षेत्रों पर आज भी निरन्तर आयोजित किये जा रहे हैं। जिससे महती धर्म प्रभावना हुई है।

सन् 1991 में पं. वीरसागरजी शास्त्री पधारे उनके द्वारा भी अनेक ग्रन्थों का ठोस सैद्धान्तिक ज्ञान कराने के साथ नियमित शास्त्र सभा का सफल संचालन किया गया। वीतराग विज्ञान पाठशाला तो आज भी निरन्तर समाज के कर्णधारों का निर्माण करने में लगी है। उक्त सभी कार्यों को संचालित करने के लिए हमें स्व० श्री धनप्रकाशजी, स्व० श्री विमल प्रसादजी, स्व० श्रीमति मनभरीजी, श्री इन्द्रसैनजी, श्री नरेन्द्र जैन सराफ, जिनेन्द्रजी, लालचन्दजी, शिखरचन्दजी, मुकेशजी, प्रतेन्द्रजी, हितेषजी, आदीशजी, पवनजी, रतनलालजी, सुरेन्द्रजी, सुभाषजी, सुरेशजी, धर्मपालजी, जुगमन्दरजी, मा०श्यामलाल जी, महेन्द्रजी, शिवचरणजी तथा जितेन्द्रजी सराफ (मु०नगर) का पूर्ण सहयोग मिला। परन्तु नरेन्द्र कुमारजी सराफ तो धार्मिक, सामाजिक कार्यों की धुरी ही हैं। वयोवृद्ध तत्वज्ञानी श्री पद्म प्रसाद जी का आशीर्वाद एवं निर्देशन भी प्राप्त है। श्री नानकचन्दजी तथा श्री जुगमन्दर दास जी आदि जैन सिद्धान्तों के तलस्पर्शी विद्वानों का भी तत्वप्रभावना में भरपूर सहयोग है।

ज्ञानपर्व श्रुतपंचमी भी विगत कई वर्षों से यहां बहुत गरिमापूर्ण ढंग से मनाई जाती है। जैन जाग्रति संस्थान के द्वारा यहां पर जाग्रति सत्साहित्य विक्रय केन्द्र, जाग्रति कैसेट सदन के माध्यम से जिनवाणी की अपूर्व प्रभावना हो रही है। इसी संस्थान की विभिन्न योजनाओं में जाग्रति तीर्थवंदना, धार्मिक कॉमिक्स प्रकाशन एवं निर्धन सहायता कोष द्वारा भी व्यवस्थित कार्यक्रम निरन्तर चल रहे हैं। मुमुक्षु भाई बहनों के स्वाध्याय हेतु ज्ञायक स्वाध्याय केन्द्र की स्थापना श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन मन्दिर पीसनोपाड़ा में की गई है।

तत्वज्ञान के इस महायज्ञ में मा० श्री रमेशचन्द्रजी अपना जीवन समर्पित कर नई पीढ़ी को भौतिकता की चकाचौंध से बचाकर, अध्यात्म मार्ग में लगाकर नई दिशा प्रदान कर रहे हैं। समाज उनकी सेवा के लिए सदा कृतज्ञ रहेगा।

तत्वप्रचारार्थ यहां मुमुक्षु मंडल भी गठित किया गया जिसके द्वारा साहित्य प्रकाशन का कार्य भी किया गया है। वर्तमान कृति उसी का फल है।

अशोक कुमार जैन (एल.आई.सी)

मंत्री

अ.भा.जैन युवा फैडरेशन, शाखा खतौली



स्व. श्री जिमेन्द्र कुमार जैन

जन्म : 1.11.1947

निधन : 20.2.94

स्थान : खतौली

स्थान : खतौली

धर्म में रुचि : 1989

प्रभाव : पं. श्री सुमत प्रकाश जी
(भोपाल वाले)

आपका जीवन यद्यपि रात्रि भोजन सेवन से युक्त होने पर भी सदाचार और व्यवहार कुशलता से परिपूर्ण था। सन् 1989 में दसलक्षण महापर्व पर पं. सुमत प्रकाश जी के खतौली आगमन पर धर्म श्रवण एवं उनकी चर्या से आपके जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। अतः आप प्रातः घर से घूमने जाने के बहाने मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का वीतराग विज्ञान पाठमाला के माध्यम से गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करने लगे। सुमत प्रकाश जी से आपका पत्र व्यवहार निरन्तर चलता रहता था। इस प्रकार आपने गहन स्वाध्याय और आत्मबल व ज्ञान से जैन दर्शन के गूढ़ से गूढ़ सिद्धान्तों के मर्मस्थल को हृदयस्थ कर लोगों को भी धर्माभिमुख किया। सिद्धान्तों के अध्ययन के साथ उन्हें अपने जीवन में उतारा जिसके परिणाम स्वरूप परिवार के पालन का पूर्ण उत्तर दायित्व होने पर भी व्यापार आदि के कार्यों में उदासीनता भी लगने लगी थी।

मुमुक्षु मण्डल में ध्रुवफण्ड की स्थापना ग्रन्थ प्रकाशनार्थ की। आपके सतत प्रयास से “तू किरण नहीं सूर्य है” नामक कहानियों का संग्रह प्रकाशित हुआ। आपके जीवन में आये क्रान्तिकारी परिवर्तन से कुटुम्बीजन एवं आपके सभी साथी आश्चर्यचकित थे। पर 45 वर्ष की अल्पवय में आपके आकस्मिक स्वर्गारोहण से परिवार और समाज की अपूरणीय और महतक्षति हुई, जो आज भी हमें व्यथित किये हुए हैं।

‘तू किरण नहीं सूर्य है’ कहानी संग्रह का द्वितीय संस्करण आपकी पुण्यस्मृति में श्रद्धा रूप समर्पित है। इसी पवित्र भावना के साथ ऐसी भव्य आत्मा शीघ्र अभ्युदय को प्राप्त हो।

भवदीय

श्री दि.जैन मुमुक्षु मण्डल,

एवं

अ.भा.जैन युवा फ़ैडरेशन खतौली

प्रकाशकीय

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल की ओर से 'तू किरण नहीं सूर्य है' का संशोधित एवं परिमार्जित रूप में पुनः प्रकाशन करने में हम हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं। प्रथम तो हम अपने उन साधर्मी भाइयों से क्षमा याचना चाहते हैं जिनकी पुस्तक की मांग होने पर भी हम समय से पूर्ति नहीं कर सके। हमें पूर्ण आशा ही नहीं विश्वास भी है कि वे अब पूर्ण लाभ उठा सकेंगे। यह द्वितीय संस्करण अमित जैन, राजकुमार जैन एवं पंकज सराफ की प्रेरणा एवं सहयोग का ही प्रतिफल है चित्रों को सुन्दर रूप देने में कु.वन्दना मित्तल पुत्री श्री राधेश्याम मित्तल जैन नगर का पूर्ण सहयोग प्राप्त रहा है उक्त पुस्तक के संकलन कर्ता एवं लेखक श्री आदरणीय बाबू लाल जी के भी हम आभारी हैं जिन्होंने उक्त पुस्तक का सम्पादन प्रो. वीरसागरजी से कराकर छपाने के लिए हमें सौंप दिया। हम अपने उन सभी दातारों के अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने ध्रुवफण्ड में दान देकर अपने पैसे का तो सदुपयोग किया जिससे उक्त पुस्तक की प्रकाशन सम्भव हो सका।

संस्था का मुख्य उद्देश्य धनार्जन नहीं, अपितु धर्म प्रभावना है। इस पुस्तक को पढ़कर यदि एक भी साधर्मी भाई निज आत्मस्वरूप की ओर उन्मुख होगा तो हम संस्था का उद्देश्य सार्थक समझेंगे।

पुस्तक के मुखपृष्ठ डिजाइनिंग के लिए 'संदीप कामर्शियल स्कूल' पी.एल.शर्मा रोड मेरठ तथा सुन्दर छपाई के लिए 'प्रगति प्रिंटर्स, विद्यालोक, मेरठ के भी हम बहुत आभारी हैं। जिन्होंने अल्प समय में उक्त प्रकाशन में सहयोग दिया।

अंत में हम उन सभी का भी आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हमारा सहयोग किया है।

प्रकाशक

तू किरण नहीं, सूर्य है !

निर्विकल्पक, अखण्ड ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। जिस प्रकार मिश्री की डली मधुरता का पिण्ड है, उसी प्रकार आत्मा ज्ञान का पिण्ड है। अथवा जैसे सूर्य प्रकाश का पिण्ड है वैसे ही आत्मा ज्ञान का पिण्ड है। सूर्य की किरणों की भाँति ही संसारी आत्मा में ज्ञान की जो किरणें प्रकट होती दीख रही हैं, वही सविकल्पक, क्षायोपशमिक ज्ञान है। इसके अतिरिक्त जीव में दया, दान, त्याग आदि के भाव (शुभ भाव) और हिंसा, झूठ, चोरी आदि के भाव (अशुभ भाव) भी देखे जाते हैं। इन शुभ-अशुभ भावों को भावकर्म या औदयिक भाव भी कह सकते हैं। चूँकि ये कर्म के उदय की अपेक्षा रखते हैं। ये कर्म के फल हैं इनके साथ ही जीव के शरीर का संयोग सम्बन्ध है और धन-वैभव-पद, स्त्री-पुत्रादि के संयोग भी हैं—ये सभी संयोग कर्म के फल हैं।

अपनी अज्ञान अवस्था में यह क्षायोपशमिक ज्ञान उस अखण्ड-अभेद ज्ञान-सूर्य से तो विमुख हो रहा है जिसका कि यह एक अंश, एक किरण मात्र है—वह ज्ञान-सूर्य तो वस्तुतः इस ज्ञान-किरण का स्रोत है। और अपने स्वरूप, अपने उद्गम-स्रोत से विमुख हुआ यह ज्ञानांश (क्षायोपशमिक ज्ञान) दूसरी ओर जीव की चित्त-भूमि में उठने वाले शुभाशुभ संस्कारों/भावकर्मों को अपना स्वरूप जान रहा है, मान रहा है, अनुभव कर रहा है। चूँकि भावकर्म औदयिक भाव और कर्मफल दोनों ही परकृत, अस्थायी, परिवर्तनशील, विनाशीक हैं, अतः उन-रूप अपने को अनुभव करने से यह ज्ञानांश स्वयं को दुःखी ही पाता है।

इस ज्ञानांश की ऐसी विपरीत परिणति के सही/सम्यक् रूपांतरण हेतु इसे समझाया जाता है कि हे ज्ञानांश ! न तो तू शरीर/कर्मफल-रूप है और न रागादिक/औदयिकभाव-रूप/अपनी सत्ता को कर्म व कर्मफल-रूप अनुभव करने से तो कर्म की वृद्धि ही होगी। तू अपने को ज्ञान-पिण्ड निज

(ज्ञायक) स्वभाव ! पारिणामिक भाव के सम्मुख करके स्वयं को उसी-रूप अनुभव कर जिससे कर्म का क्रमशः छस होगा और सम्यक् ज्ञान की वृद्धि होगी। और इस प्रकार यदि तू अपने निर्विकल्पक स्वरूप के अनुभव में ठहर जाएगा तो कर्मों का नाश हो जाएगा तथा ज्ञान की पूर्णता होकर केवल ज्ञान रूप परिणमित होगा।

आत्मा के कल्याण के मार्ग की इस रूपरेखा को एक रूपक के माध्यम से इस प्रकार भी समझा जा सकता है :-

पारिणामिक भाव {ज्ञायक-स्वभाव} (ज्ञान-सूर्य)	क्षायोपशमिक भाव {बुद्धि} (ज्ञानांश/ज्ञान-किरण)	औदयिक भाव {भाव कर्म शुभ-अशुभ भाव} (रागादिक तथा उनके अवलम्बन शरीरादिक)
---	--	--

अज्ञान दशा

	१	६	३
भेद-विज्ञान	१	३	३
संयम	१	३	६
(आत्म-स्वरूप में ठहराव)			
कैवल्य/मोक्ष	१	०	०

हमारी वर्तमान में प्रकट जो जाननशक्ति है, वही क्षायोपशमिक ज्ञान '६' है। इस जाननशक्ति को किस ओर लगाना है, किस ओर केन्द्रित करना है, यह हम पर निर्भर है। अभी यह जाननशक्ति—बुद्धि रागादिक अथवा औदयिक भाव '३' के सम्मुख हो रही है और स्वयं को '३' ही समझ रही है। '६' के कल्याण का सम्यक् उपाय अपने उदगम-स्रोत पारिणामिक भाव '१' के सम्मुख होना है।

हमने शास्त्र अध्ययन आदि के द्वारा '६' को बहुत बढ़ाया, बहुत जानकारियाँ इकट्ठी कीं परन्तु '६' पलट कर '१' के सम्मुख नहीं हुआ—उसने '१' में अपनापन, एकत्व अनुभव नहीं किया। इसी प्रकार

क्या-काण्ड का पालन करके, पूजा-पाठ, व्रत-उपवास, त्याग-दानादि के द्वारा '३' को भी हमने बहुत बढ़ाया—अशुभ भावों को शुभ भावों-रूप बदलने के लिये ऊँचे दर्जे का आचरण किया परन्तु '६' फिर भी '३' के सम्मुख ही रहा, साथ ही उसने ऊँचे आचरण का अहंकार कर लिया कि मैं सा हूँ, इसी रूप हूँ।

यह सब होने पर भी सम्यक् रूपांतरण नहीं हुआ, मोक्षमार्ग की रुआत नहीं हुई क्योंकि '६' स्वरूप '१' के सम्मुख नहीं हुआ। अज्ञान, विवेक की यह दशा '१६३' है। यदि '६' अपना मुख घुमाकर '३' से सम्मुख होकर '१' के सम्मुख हो जाए; ज्ञानांश यदि स्वयं को ज्ञान-स्वभाव-रूप अनुभव कर ले, तो जीव की अज्ञान अवस्था परिवर्तित होकर सम्यक् ज्ञान-अवस्था '१३३' हो जाए; ज्ञानांश '६' का रागादिक (और उनके प्रलम्बन शरीरादिक) '३' से विमुख होना और स्वरूप '१' के सम्मुख होना, यही भेद-विज्ञान है।

ध्यायोपशमिक ज्ञान '६' का सम्यक् रूपांतरण हुआ तो '६' ने चूँकि '१' की ओर मुख किया, अतः दाईं ओर के '३' की ओर उसकी स्वतः पीठ गई। सम्यक् ज्ञान (मध्य का '३') जब बारम्बार अपने स्वरूप '१' में लीन होने लगा तो उसकी दाईं तरफ के '३' से बेरुखी बढ़ती चली गई उसके परिणामस्वरूप दाया '३' भी उससे बेरुख हो गया। नतीजा यह हुआ '१३६' की अवस्था बनी। दूसरे शब्दों में जब विवेक/भेद-विज्ञान का अंश बढ़ना शुरू हुआ तो औदयिक भावों का अंधेरा खुद-ब-खुद ही लुप्त होना शुरू हो गया। यही दशा सम्यक्चारित्र की है, यही मोक्षमार्ग है। इसी के बल पर औदयिकभाव-रूपी अंधेरे का आत्यंतिक क्षय होता है और विवेक सम्यग्ज्ञान (मध्य का '३') पूर्णता को प्राप्त होकर अंश अपने अंश में समाकर केवल '१' रह जाता है, वही मोक्ष है।

कर्मकृत नाटक

नाटक में पार्ट करते हुए यदि कोई अभिनेता इतना तन्मय हो जाए कि अपना असली स्वरूप को ही भूल जाए और उस पार्ट या रोल को ही असलियत मान बैठे। तो उस रोल-सम्बन्धी सुख-दुःख का भोग भी उसके शुरू होता जाता है। वह सुख-दुःख कैसे मिटे ? इसका सीधा-सरल उपाय यही है कि किसी प्रकार उसे अपने असली स्वरूप की याद आ जाए। तब नाटक में वह रोल अदा करते हुए भी उसे उस रोल सम्बन्धी दुःख-सुख नहीं होगा यही सही उपाय है। यदि कोई कहे कि उसको गरीब/दीन व्यक्ति के रोल के स्थान पर धनिक/शक्तिशाली का रोल दे दें, तो वह सही उपाय न होगा क्योंकि यदि उस (अभिनेता) को रोल में अपनापना (एकत्व) आ रहा है तो उसके दुःख-सुख का निवारण किसी प्रकार नहीं हो सकता। रोल विषयक दुःख-सुख उसे अवश्य होगा।

यही हालत हम संसारी जीवों की है। यह जीव चौरासी लाख योनि में कर्मजनित पार्ट या रोल कर रहा है। कभी मनुष्य का रोल करता है कभी पशु-पक्षी का, कभी पुरुष का रोल करता है तो कभी स्त्री का, कभी निर्धन का रोल करता है तो कभी धनवान का, कभी निर्बल का रोल करता है तो कभी बलवान का, कभी मूर्ख का रोल करता है तो कभी विद्वान का यह पार्ट करते हुए कभी धन, स्वास्थ्य, बुद्धि, रूप आदि की हानि होती है तो कभी ये संयोग इसे मिल जाते हैं, कभी पुत्र का विवाह होता है तो उसका मरण और इन स्थितियों में यह स्वयं को दुःखी-सुखी मानता है फिर नये रोल्स करने का कारण इकट्ठा कर लेता है। अनन्तकाल से इस यही हालत हो रही है और इन विभिन्न रोल्स को करते-करते यह अपना असली स्वरूप को तो भूल गया है और उस-उस रोल को ही असलियत मान लिया है, जो-जो इसे मिलता रहा है।

आज तक हमारा सारा प्रयत्न समस्त पुरुषार्थ इन रोल्स को बदलने

की दिशा में ही केन्द्रित रहा है। अपने दुःख दूर करने के लिये हमने सदैव गरीब के रोल को धनिक के रोल में बदलना चाहा या रोगी के रोल को नीरोगी के रोल में; कुरूप के रोल का सुन्दर व्यक्ति के रोल में बदलने का यत्न किया या कमजोर के रोल को ताकतवर के रोल में। किन्तु हाँ ! इन सभी रोल्स से भिन्न अपने असली स्वरूप को, अपने ज्ञायक स्वरूप को जानने का पुरुषार्थ कभी नहीं किया। यदि निज स्वरूप को जान लिया होता तो इनमें से कोई भी पार्ट करते हुए न तो दुःख-सुख होता और न ही नये-नये रोल्स करने का कारण बनता और अन्त में सभी रोल्स से छुटकारा पाकर यह जीव कर्मरहित हो जाता।

सही अर्थ में सुखी होने का उपाय पार्ट अथवा रोल को बदलना नहीं, बल्कि पार्ट करने वाले को जानना है जिसे कि हम आज तक भूले हुए हैं। इसी को जानना सुखी होने का सच्चा उपाय है। धनिक का रोल करते हुए अपने को सुखी समझता है, वह वास्तविक सुख नहीं है।

निर्मोही नगरी !

एक बार एक राजकुमार जंगल में रास्ता भूल गया और भटकता हुआ किसी साधु के आश्रम में जा पहुँचा। साधु ने उसका यथोचित सत्कार किया और उसका परिचय पूछा। राजकुमार बोला, “मैं निर्मोही नगरी के निर्मोही राजा का ज्येष्ठ पुत्र निर्मोही युवराज हूँ, वन में रास्ता भूलकर आपके आश्रम तक पहुँचा हूँ।” परिचय सुनकर साधु आश्चर्यचकित हुआ कि राजा निर्मोही, युवराज भी निर्मोही और यहाँ तक कि सारी नगरी ही निर्मोही। उसकी स्तुति इतनी बढ़ी कि इस बात की जाँच करने के लिये राजकुमार को ही बैठाकर वह स्वयं उस नगरी में जा पहुँचा। नगरी के प्रवेशद्वार में होते ही उसने देखा कि छोटा राजकुमार हाथी पर सवार हुआ आ रहा है। साधु को देखकर राजकुमार नीचे उतरा और उसे नमस्कार किया। साधु ने ससे कहा—“तुम्हारे लिये एक बुरी खबर है, तुम्हारा बड़ा भाई वन में

गया था। वहाँ एक शेर ने उसे मार डाला।” राजकुमार बोला, “महाराज एक वृक्ष पर दो आम लगे थे; एक गिर गया, दूसरा अभी लगा हुआ है गिरने वाला आम दूसरे को जता रहा है कि एक दिन तुझे भी गिरना है—वह भी गिरेगा ही। आपने इस तनिक-सी बात के लिये व्यर्थ ही इतना (सूचनार्थ यहाँ आने की) कष्ट उठाया।” साधु ने विचार किया—यह राजपुत्र तो वास्तव में ही निर्मोही है, तो भी अन्य लोगों की परीक्षा के लिये भी आगे चलना चाहिए !

आगे चलने पर साधु को एक स्त्री दिखाई पड़ी। वह युवराज्ञी की दासी थी और पूजा के लिये फूल लेने जा रही थी। साधु ने उसे भी वही बात कही। दासी ने उत्तर दिया—“महाराज ! जो फूल सबरे खिला है वह संध्या के समय मुरझायेगा ही। इसमें आश्चर्य की क्या बात ? यह तो निश्चित है।” दासी का जवाब सुनकर साधु का आश्चर्य और बढ़ गया कि यहाँ की तो दासी भी निर्मोही है !

साधु पुनः आगे बढ़ा और युवराज्ञी के महल में जा पहुँचा। उसने साधु को आसन पर बैठाया और आने का प्रयोजन पूछा। साधु बोला—“तुम्हारे लिये अत्यन्त दुःखद समाचार है, तुम विधवा हो गई हो।” युवराज्ञी ने कहा—“महाराज ! हमारा विवाह हुआ तो दो व्यक्तियों का संयोग हुआ था; तभी यह निश्चित था कि दोनों में से एक को तो पहले जाना ही होगा, चाहे पत्नी पहले जाए अथवा पति ! जहाँ संयोग होता है वहाँ वियोग भी अवश्य ही होता है, इसमें दुःख की क्या बात ?” साधु निरुत्तर हो गया और वहाँ से चलकर राजकुमार की माँ के पास पहुँचा। वहाँ भी उसने युवराज के आकस्मिक मरण की कहानी दोहराई। रानी बोली—“महाराज ! पुत्र को जब मैंने पहली बार गोद में लिया था, आयु तो उसकी तभी से एक-एक क्षण करके कम होने लगी थी, सो अब वह खत्म हो गई। इसमें अनहोनी कैसी ? जो उत्पन्न होता है वह अवश्य मरता है, संसार का ऐसा ही नियम है।” साधु चुपचाप वहाँ से निकलकर राजा के दरबार में पहुँचा।

राजा के पास पहुँच कर साधु ने एक बार फिर वही खबर सुनाई। राजा बोला—“महाराज ! आज तक संसार में कोई भी अमर नहीं हुआ।

संयोग के साथ वियोग, जन्म के साथ मरण, उत्पत्ति के साथ विनाश अवश्यम्भावी है; इन्हें न कोई रोक सका है, न रोक सकता है और न ही कभी रोक सकेगा—यह सृष्टि का शाश्वत नियम है।” साधु ने जब इस प्रकार देखा कि वास्तव में यह तो नगरी ही निर्मोही है, जहाँ राजा-प्रजा सभी निर्मोही हैं, तो वह नगरी से वापिस अपने आश्रम को लौट पड़ा। रास्ते में सोचता गया कि बस अब तो युवराज के निर्मोह की थाह लेनी बाकी है !

आश्रम पहुँच कर साधु युवराज से बोला—“मेरे लौटने में देरी हो गई, उधर तुम्हारी नगरी में आग लग गई थी जिसमें तुम्हारे माँ-बाप, पत्नी, भाई सभी जल गये। केवल कुछ लोग बचे हैं, उनकी व्यवस्था करने में देर हो गई।” राजकुमार ने उत्तर दिया—“महाराज ! किसका बाप, किसकी माँ, किसकी पत्नी और किसका भाई ? ये सब इस शरीर के साथ यहीं रह जायेंगे।”

ऐसी है भेद-ज्ञान की महिमा ! यदि यह जीव शरीर व आत्मा को अलग-अलग समझ कर स्वयं को शरीर से भिन्न चैतन्य-रूप देखे, अनुभव करे तो दुःख-सुख होने का प्रश्न ही न उठे। शरीर और आत्मा कभी एक नहीं होते ! आत्मा का स्वभाव अलग है, शरीर का स्वभाव अलग। चीनी को यदि पानी में मिला दें तो भी न चीनी अपने मीठेपन को छोड़ती है और न पानी अपने गीलेपन को ! एक विशेष प्रक्रिया से दोनों पुनः अलग-अलग किये जा सकते हैं। इसी प्रकार आत्मा और शरीर का संयोग है; दोनों न कभी एक हुए हैं और न कभी एक हो सकते हैं। परन्तु यह जीव अपनी अज्ञानता से—निज स्वरूप से बेखबर स्वयं को शरीर-रूप ही देखता-जानता है, शरीर के नाश में अपना नाश और शरीर की उत्पत्ति में अपनी उत्पत्ति मानता है। निज की यह अज्ञानता ही इस जीव के बारम्बार जन्म धारण करने में कारण है।

ज्ञान का मालिक !

एक त्रिभुज या त्रिकोण बनाओ। उसके शीर्ष पर ज्ञान को रखो और निचले दोनों कोणों में से एक पर धन-वैभव, राज-सम्पदा आदि रखो और दूसरे पर दान-त्याग, व्रत-उपवास, पूजा-पाठ आदि रखो। ज्ञान में अपने सर्वस्व को स्थापित करो। तुम ज्ञान के मालिक, ज्ञान के स्वामी, ज्ञायक तत्त्व हो। धन-वैभव आदि में रत होना अशुभ भाव, यह तीव्र कषाय-रूप अशुभ भाव शुभ भाव कर्मकृत कार्य है। इसी प्रकार, दान-त्याग आदि के भाव या शुभ भाव भी मंद कषाय-रूप; कर्मकृत कार्य है।

ज्ञान (ज्ञायक)

यह आत्मा तो ज्ञान का मालिक है, न तो यह अशुभभाव-रूप है और न ही शुभभाव-रूप; न इस कार्य का कर्ता है, न उस कार्य का। यह तो जाननरूप क्रिया का कर्ता, स्वयं ज्ञायक मात्र है; यह न तो क्रोध का कर्ता है न ही उसका मेटनेवाला है; न यह भोगों का कर्ता है और न ही भोगों के त्याग का कर्ता है—यदि भोग का कर्ता बनेगा तो उसके त्याग का कर्ता भी आवश्यक बनेगा। यह गणित के नियमों की भाँति ही युक्तियुक्त और निरपवाद नियम है। यदि भोग में इसके अहम्पना होगा तो इसके त्याग में भी अहम्पना जरूर होगा और तब निश्चय ही इसके ज्ञान-स्वभाव में अहम्पना स्थापित नहीं हुआ होगा।

जो आत्मा अपने ज्ञान-स्वभाव में अपनापना, एकत्व, तादात्म्य कर लेता है, उसके न तो पर के ग्रहण में अपनापना आता है और न उसके त्याग में अपनापना होता है। पर में अपनापना, यह अहम्भाव केवल उसी के मिटता है जो स्वयं को ज्ञायक स्वभाव रूप देखे-जाने और अनुभव करे। अन्यथा, पहले तो धन-वैभव में अहम्भाव रहता है, फिर उनके त्याग का अहम्भाव आ जाता है।

कहीं दूसरे का अहम् पुष्ट न हो जावे

एक साधु अपने गुरु के आश्रम में रहता था। कुछ दिनों के बाद वह गुरु के सामने पड़ गया। गुरु ने उसकी तरफ देखा। गुरु के देखते ही उसको खुशी हुई, क्योंकि उसने समझा कि गुरु ने मुझे इज्जत दी। गुरु इस बात को समझ गये, उसकी आँखे नीचे झुक गयीं। इसके बाद तीन वर्ष तक गुरु ने आँखें उठाकर उसको नहीं देखा। उसने अपने साथियों से पूछा कि मेरे से क्या अपराध हो गया ? उन्होंने बताया कि गुरु के देखने से तूने अपना अहम् पुष्ट किया, तेरे “मैं” भाव में सजगता आयी, इसलिये गुरु ने नज़र नीची कर ली। तीन वर्ष बाद वह फिर गुरु के सामने पड़ गया। इस बार गुरु ने उसे देखकर प्रसन्नता व्यक्त की। इस बार इस साधु के अहम् का भाव तो नहीं हुआ परन्तु कुछ आश्चर्य का भाव हुआ। तत्काल ही गुरु की दृष्टि वहाँ से हट गयी। इसने अपने साथियों से पूछा कि अब क्या हुआ ? उन्होंने कहा कि अबकी बार भी उनकी प्रसन्नता को देखकर तुम्हारे भीतर कुछ हुआ, इससे मालूम देता है कि पर से तुम्हारे भीतर स्पन्दन होता है। वे तब मुस्करायेगे जब उनकी मुस्कुराहट अथवा कोई भी क्रिया तुम्हारे भीतर कोई भी फर्क पैदा न कर सके। तीन वर्ष बाद फिर गुरु जी मिले और उन्होंने उस साधु को गले लगा लिया परन्तु साधु को ऐसा लगा कि कोई अन्य किसी अन्य को गले लगा रहा है, वह तो मात्र जान रहा है। गुरु ने कहा कि अब तुम्हारा “मैं” मर गया, अब तुम सरल हो गये, अब तुम शरीर नहीं रहे। अब तुम शरीर से अलग हो।

अब अपनी बात है। कुछ लोग हमारे अहम् को पुष्ट करते हैं, हम उन्हें अपना मित्र समझते हैं। जो हमारे अहम् को पुष्ट नहीं करते हम उनसे बचना चाहते हैं। परन्तु सही आदमी वही है जो हमारे अहम् को पुष्ट करने का साधन न बने। हम भी सही तभी हैं जब दूसरे की कोई क्रिया हमारे में कोई असर पैदा नहीं करे। यह हमारे पर ही निर्भर है। यही

वास्तविक स्वतन्त्रता है। अगर दूसरे की क्रिया से हमारे में क्रोध-मान पैदा हो सकता है, तो हम उसके आधीन हैं, गुलाम हैं। हम हमारे अपने स्वामी नहीं हैं।

जो था वह दे दिया

एक नग्न साधु जंगल में ध्यान कर रहे थे। उसी रास्ते से राजा श्रेणिक जा रहे थे। उन्होंने साधु की परीक्षा करने को एक मरा हुआ साँप उनके गले में डाल दिया। राजा श्रेणिक साँप डालकर अपने काम से जहाँ जाना था चले गये। रात को चेलना रानी से महाराज श्रेणिक ने कहा कि मैंने आज एक मरा हुआ साँप एक नग्न साधु के गले में डाला था। उसने तो अब तक निकाल कर फेंक दिया होगा। रानी चेलना ने कहा कि अगर वह जैन साधु होगा तो साँप निकाल कर नहीं फेंका होगा। रानी के मन में बड़ी आकुलता और दुःख हो रहा था। वह उसी समय राजा श्रेणिक के साथ वहाँ पहुँची जहाँ साधु ध्यानस्थ थे। उन्होंने देखा कि साधु ध्यानास्थ विराज रहे हैं और उस मरे हुए साँप को वजह से जो उनके गले में पड़ा था—हजारों-लाखों चीटियाँ साधु के शरीर से चिपकी हुई हैं। महारानी दुःख से सिहर उठी और मुनिराज के आसपास में चीनी डाल दी जिसकी सुगंध से चीटियाँ उनके शरीर से धीरे-धीरे हटने लगी। राजा ने साँप को मुनिराज के गले से निकालकर दूर किया। कितनी देर बाद मुनिराज का ध्यान हटा और राजा-रानी दोनों ने नमस्कार किया। मुनिराज ने दोनों को ही धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ कि मुनिराज ने साँप डालने वाले को और साँप निकलवाने वाले, दोनों को एक ही प्रकार का आशीर्वाद कैसे दिया ? राजा श्रेणिक अपने कृत्य पर बहुत दुःखी था और पश्चाताप से भरा हुआ था।

अब अपनी बात है कि जिसके पास जो होता है वही वह दूसरे को देता है। हमारे पास क्रोध है, गाली है—अगर हम होते तो वही दूसरे को देते।

मुनिराज के पास आशीर्वाद के अलावा और कुछ नहीं था अतः वही उन दोनों को दे दिया। उनके पास गाली अथवा क्रोध था ही नहीं। सवाल मुनिराज के पास क्या था, इसका है। बाल्टी कुँए में डालते हैं, साफ पानी होने पर बाहर साफ पानी आ जाता है, मैला होने पर मैला पानी आ जाता है। सवाल बाल्टी का नहीं है, सवाल है कुँए में कैसा पानी है। साँप डालना और निकालना तो बाल्टी तुल्य है। बाहर वही आता है जो भीतर होता है।

खाते का मिलान तिजोरी से

एक दुकानदार दुकान बंद करने के समय अपना खाता बनाता है। दिन भर का लेन-देन लिखता है फिर बाकी निकालता है कि सब देना-लेना करने के बाद कितना बचता है। उस बाकी की तिजोरी में रखे हुए रुपये से मिलान करता है। जब तक तिजोरी से मिलान नहीं होता वह अपनी गलती खोजता रहता है। फिर उस नकद रुपये को एक कागज पर लिखकर जो दूसरे का देना है उसको उसमें से घटाकर शेष में ही अपनापना मानता है।

यही बात तत्व ज्ञान के विषय में है। पहले आगम के द्वारा वस्तु तत्व का निश्चय करे। फिर अपने अंतर तत्व से मिलान करे। वहाँ पर भी जो कर्म की चीज है वह कर्म के खाते में डाले। जो बचा उसका अपने भीतर में मिलान करे। वैसा मिलान होने पर उतने मात्र में अपनापना माने। दूसरे की अमानत पड़ी है उसे अपनी के साथ अपनी मान ले वह साहूकार नहीं है। हमें भी आठ कर्मों की अमानत पड़ी है उसे ही अपना वैभव मान लिया है। कर्मों की अमानत को बाद देने पर जो बाकी बचा मात्र एक अकेला चैतन्य, उतना ही मैं हूँ। मात्र शास्त्र ज्ञान से आत्मा उपलब्ध नहीं होता। आगम से समझकर अपनी आत्मा रूपी तिजोरी में मिलान करें और वैसा ही वहाँ उपलब्ध हो तब वस्तु तत्व की प्राप्ति कही जाती है।

एक देखिए इक जानिए रामे रहिये इक ठौर

एक शिवभूति नाम के मुनि थे। उनके ज्ञान का उघाड़ बहुत कम था। हजारों बार समझाने पर भी कुछ समझ में नहीं आता था। कुछ याद भी नहीं रहता था। गुरु ने थक कर कहा कि तुम्हें कुछ याद नहीं होता अतः तुम रोज “माँ रुष, माँ तुष” इन लाइनों को रटते रहा करो। इन लाइनों का मतलब था कि राग-द्वेष मत कर। मुनि इसको रटने लगे और रटते-रटते सही पाठ भूल गये। “तुष-मास” बोलने लगे। क्या बोल रहे हैं उसका अर्थ भी उन्हें मालूम नहीं था। “तुष-मास” बोलते हुए किसी गाँव में किसी घर के पास से जा रहे थे। वहाँ दो स्त्रियाँ संस्कृत में बात कर रही थी। एक ने दूसरी से पूछा — “किं करोसि ?” दूसरी ने जवाब दिया — “तुषम् मासम् भिन्नम् करोमि अर्थात् उरद की दाल और छिलके को अलग-अलग कर रही हूँ।” क्योंकि मुनिराज तुषम्-मासम् बोलते जा रहे थे। उनके कानों में ये शब्द पड़े और उनको यह ज्ञान हो गया कि जैसे दाल से उसका छिलका भिन्न है वैसे ही आत्मा से शरीर भिन्न है। यह ज्ञान होते ही आत्मा भावज्ञान रूप परिणमित हो गया और दृष्टि बाहर से हटकर चेतन पर चली गयी और उसी में रम गयी। जिसका फल पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो गयी।

अब अपनी बात है। आत्म कल्याण के लिये तो आत्मज्ञान की, आत्म अनुभव की दरकार है। जैसी पकड़ शरीर की है, जैसा अपनापना शरीर में है वैसा अपनापना अपने चैतन्य स्वभाव में आवे, जैसी पर बुद्धि कपड़े में है वैसी पर बुद्धि शरीर में हो तभी संसार की जड़ कटेगी। जब तक शरीर में अपनापना है तब तक राग-द्वेष पैदा होते ही रहेंगे। नया जामा धारण करने का कर्म संचय होता ही रहेगा।

स्व-पर का भेद ज्ञान

एक धोबी भूल से किसी दूसरे का कपड़ा किसी दूसरे को दे गया। उस दूसरा

व्यक्ति ने भी उस कपड़े को अपना समझकर पहन लिया। दूसरे दिन धोबी आया और उसने कहा कि जो कपड़ा मैं कल आपको दे गया था वह आपका नहीं था। धोबी ने उस कपड़े के चिन्ह को दिखाकर उस व्यक्ति को इसका विश्वास करा दिया। चिन्ह को देखकर उस व्यक्ति ने जान लिया कि यह कपड़ा मेरा नहीं है। उस व्यक्ति ने बिना कुछ कहे वह कपड़ा धोबी को वापिस दे दिया। उस कपड़े को वापिस करने में किसी प्रकार का दुःख भी नहीं हुआ।

अब अपनी बात है कि इसी प्रकार हमने भी इस शरीर को अपना मानकर पकड़ रखा है। आचार्य बार-बार समझाते हैं कि यह तेरा अपना नहीं है। इसके जड़त्व रूपी चिन्ह को दिखाते हैं कि यह तेरे चिन्ह वाला नहीं है; परन्तु यह बात तो सुनता है, लेकिन उस चिन्ह को देखना और देखकर अपने चिन्ह से मिलान करना ही नहीं चाहता है। कदाचित कोई व्यक्ति इसकी पहचान करता है तब पहचान होते ही शरीर से अपनापना मिट जाता है, स्वामीत्वपना नहीं रहता। जैसे कपड़े को उतारकर देने में देरी हो सकती है परन्तु अपनापना जाने में देरी नहीं लगती। वैसे ही शरीर से अपनापना तो मिट जाता है, सम्बन्ध छोड़ने में कुछ समय लग सकता है। जब शरीर से दृष्टि हटाकर चेतन को अपने रूप अनुभव करे तो जन्म धारण करने का बीज ही नष्ट हो जाता है।

कुँए में बाल्टी !

किसी ने पानी भरने के लिए कुँए में बाल्टी डाली और उसे भरकर बाहर निकाला। बाल्टी गंदे पानी से भरकर आ गई। अब बताइये, गंदलापन किसने पैदा किया ? क्या बाल्टी ने ? नहीं, बाल्टी ने गंदलापन पैदा नहीं किया, उसने तो जो कुँए में था वही बाहर ला दिया। यदि कुँए में साफ पानी होता तो बाल्टी के माध्यम से साफ पानी बाहर आ जाता, गंदला पानी था तो गंदला ही बाहर आ गया। और यदि कुँए के भीतर कुछ भी न होता तो बाल्टी खाली ही बाहर आ जाती। बाल्टी न तो गंदलापन पैदा करती है और न

स्वच्छता। यदि हम बाल्टी को गंदलापन या स्वच्छता पैदा करने वाली मानते हैं तो यह हमारी अज्ञानता है।

आप कहेंगे कि बाल्टी को गंदलापन पैदा करने वाली तो कोई भी नहीं मानता ?

ठीक है, परन्तु हम अपने जीवन में तो ऐसा ही मानते हैं—दूसरे ने क्रोध करा दिया, उसने मन चला दिया इत्यादि।

मान लीजिये कि किसी के गाली देने पर हमने क्रोध किया। यदि हमारे भीतर क्रोध न होता तो गाली क्या करती ? गाली ने तो मात्र बाल्टी का काम किया, जो हमारे अंतरंग में था वह बाहर आ गया। यदि हममें विकार न होता तो प्रतिक्रिया पैदा न होती। इसी प्रकार स्त्री ने राग करा दिया, अथवा खोमचे वाले ने मन चला दिया, क्या ये बातें सही हैं ? नहीं सच तो यह है कि मन हमने चलाया, गंदगी हममें थी, हम विकारी थे, स्त्री का अवलम्बन हमने किया, विकार-रूप परिणमन हमने किया और नाम लेते हैं स्त्री का। यह तो सरासर बेईमानी है।

जब तक हम यह मानते रहेंगे कि पर ने, दूसरे ने हम में विकार पैदा किया, तब तक हमारे विकार के मिटने की सम्भावना ही नहीं बन सकती। जब हम वस्तुस्थिति को सही रूप से समझेंगे कि मैंने पर का अवलम्बन किया, विकार के लिये लिया और इस प्रकार अपनी वजह से निज में विकार-रूप परिणमन किया है, यह गलती मेरी ही है। विकार मुझमें है, तभी हम स्वयं को ठीक करने की चेष्टा कर सकेंगे, अन्यथा नहीं। यदि हमारी मान्यता गलत ही बनी रही कि दूसरे की वजह से विकार हुआ है, तब तो हमारे विकार की उत्पत्ति भी और विनाश भी दूसरे के आधीन ठहरे—दूसरा दूर करे तो वह दूर हो, हमारे प्रयास से कैसे ठीक हो सकेगा ? फलस्वरूप हम सदा विकारी ही बने रहेंगे।

अज्ञानता के विकल्प

दो दोस्त बैठे बातें कर रहे थे। एक ने एक खेत का नक्शा मिट्टी पर बनाया

और कहा कि यह खेत मैं ले लेता हूँ और यह बगल वाला तू ले लेना। दूसरे ने भी मिट्टी के नक्शे पर निसान लगाया और कहा कि यह बात तो ठीक है परन्तु मेरी भैंस तेरे खेत में इधर से आयेगी। पहले ने कहा, मैं तेरी भैंस को इधर से नहीं आने दूंगा। दूसरे ने कहा कि, मेरी भैंस तो इधर से ही आयेगी। पहले वाले ने ताव में आकर कहा कि अगर तेरी भैंस इधर से आयेगी तो मैं तेरी भैंस को मार दूंगा। दूसरे ने उसी मिट्टी के नक्शे पर उगली रखकर कहा कि देख ! यह मेरी भैंस तेरे खेत में गयी। पहले ने उसके हाथ पर डण्डा मारकर कहा कि देख ! यह मैंने उसको मार दिया। इस प्रकार दोनों में लड़ाई हो गयी। कोर्ट में केस गया। जज ने पूछा कि तुम दोनों क्यों लड़े ? उन्होंने कहा कि यह मत पूछिये कि झगड़ा क्यों हुआ ? आपको जो दण्ड देना है सो दे दीजिए।

अब अपनी बात है। क्या यह दशा हमारी नहीं है। आगे की, पीछे की बातें सोचते रहते हैं और कषाय में पागल होते रहते हैं। वह सोचता है कि अगर उसने यह कहा तो मैं ऐसा करूँगा अथवा पीछे की सोचता है कि उस रोज उसने ऐसा कहा, मैंने ऐसा जवाब दिया। इस प्रकार आप ही अपने में विकल्प उठाता है और आप ही दुःखी होता रहता है। आपस में झगड़ा कर लेता है। जब पता लगता है कि इन सबका कारण क्या है तो मालूम होता है कि इसकी जड़ में हमारी अज्ञानता भरी हुई है।

आगम ज्ञान और आत्म ज्ञान

कोई विद्वान नौका में बैठकर जा रहे थे। बीच में नाविक से बातचीत करते हुए उन्होंने पूछा कि क्या तुम संगीत जानते हो ? नाविक ने कहा कि नहीं। फिर पूछा क्या व्याकरण जानते हो, पढ़ना-लिखना जानते हो ? नाविक ने फिर ना कहा और कहा—मैं तो मात्र इस पानी में तैरना जानता हूँ। विद्वान ने कहा कि तुम्हारी जिंदगानी तो बस पानी में ही गयी। मैं तो न्याय, संस्कृत, गणित और बड़े-बड़े आगम ग्रन्थों को जानता हूँ। तैरने पर तो मैंने थिसिस लिखी है।

अभी यह बात चल ही रही थी कि पानी में तूफान आ गया। नौका डूबने लगी। नाविक ने पूछा कि पण्डित जी ! तैरना जानते हैं ? पण्डित जी ने कहा कि मैं तो कभी पानी में उतरा ही नहीं हूँ। नाविक ने कहा कि आपने थिसिस तो तैरने पर लिखी, न्याय-व्याकरण भी पढ़ा परन्तु अब डूबना पड़ेगा। और नाविक ऐसा कहकर नौका से बाहर कूद गया और नाव डूब गयी।

अब अपनी बात है। लोग ग्रन्थों का अध्ययन करके आगम ज्ञान तो अच्छे से अच्छे तरह का कर लेते हैं औरों को समझा भी देते हैं परन्तु अभी तक उन्होंने आत्मा के बारे में ही जाना है आत्मा को नहीं जाना। वह जानकारीयाँ उनके लिये परिग्रह बन जाती है और अंधकार पैदा कर देती है। धनवान से भी ज्यादा अहंकारी पण्डित होता है। वह कागज की नाव में बैठ कर तिरना चाहता है। आत्मा को जाने तो आत्मज्ञानी हो। इसके बिना जीवन नहीं बदल सकता। आगम से समझकर अपने में देखना है।

दबाई हुई कषाय

एक गाँव में दो मित्र रहते थे। उनमें से एक बहुत क्रोधी था। कई वर्षों बाद कोई कारण पाकर वह मुनि हो गया। कितने ही वर्षों बाद वे मुनि उसी गाँव में भ्रमण करते हुए आये। वह दूसरा मित्र उनसे मिलने गया। वह मुनि उसको पहचान तो गया परन्तु बर्ताव अनजानेपने का सा किया। कुछ देर बाद उस मित्र ने कहा—“महाराज ! आपका नाम क्या है ?” मुनि ने कहा—“शीतल प्रसाद।” कुछ देर बाद फिर मित्र ने पूछा—“महाराज ! मैं आपका नाम भूल गया, आपका नाम क्या है ?” फिर मुनि ने कहा—“शीतल प्रसाद।” फिर मित्र जाने लगा और जाते-जाते फिर पूछा कि महाराज ! मैं आपका नाम फिर भूल गया, आपका नाम क्या है ? उसने कहा—“शीतल प्रसाद। फिर जाते-जाते वापिस आकर पूछा—“महाराज ! आपका नाम क्या है ? मैं तो फिर भूल गया। बस मुनि क्रोध में पागल हो

गये और बोले—“हजार बार कह दिया मेरा नाम शीतल प्रसाद है—शीतल प्रसाद है।” उस मित्र ने कहा—“महाराज ! आपका नाम तो अग्नि प्रसाद है इसीलिये मेरे को याद नहीं रहता था।”

अब अपनी बात है। आदमी क्रोध में ही घर-गृहस्थी को लात मार देता है और साधु हो जाता है। भीतर में कषाय की आग जलती रहती है, उसको दबाते-दबाते आदमी का जीवन पाखण्ड से भर जाता है। पहले रसोईघरों में चिमनी होती थी धुआँ निकलने के लिये। अगर चिमनी रोक दी जावे तो धुआँ भीतर इकट्ठा होकर धुटन पैदा कर देता है। जब सब रास्ते बंद हो जाते हैं तो धुआँ बाहर निकलने के लिये कोई नया रास्ता बना लेता है। यही कारण है कि जो काम-वासना को रोकते हैं उनके क्रोध ज्यादा पैदा होने लगता है। धर्म का सम्बन्ध कषाय दबाने से नहीं है। परन्तु पैदा ही न हो इससे है। कषाय का पैदा होना तभी बंद हो सकता है जब तत्त्व ज्ञान का सही निर्णय करे, अपने स्वरूप का ज्ञान हो। दबाई हुई आग कभी भी भड़क सकती है। नहीं भी भड़के तो भीतर-भीतर सुलगती रहती है। अतः कषाय को अभाव के लिए सही तत्त्व निर्णय जरूरी है।

जहाँ मैं हूँ वही तुम हो

दो मित्र बचपन में एक साथ पढ़ते थे। बड़े होने पर एक बादशाह बन गया और एक साधु हो गया। साधु ने सब कुछ छोड़ दिया और बादशाह ने अपने राज्य को बढ़ाया, उसकी विजय की कहानियाँ दूर-दूर तक फैल गयी।

बहुत दिनों के बाद उस पुराने मित्र साधु का बादशाह के नगर में आगमन हो रहा था। बादशाह ने सोचा कि हमारा मित्र आ रहा है, उसने सब कुछ त्याग कर दिया है, अतः उसका स्वागत और सम्मान उँचे दर्जे का करना चाहिए। अतः उसने पूरे रास्ते में कालीनें बिछवाई और अनेक स्वागत द्वार बनवाये। मुख्य स्वागत द्वार पर स्वागत के लिये स्वयं बादशाह अपने दरबारियों को लेकर खड़ा हुआ। कुछ लोगों ने साधु को जाकर कहा

कि बादशाह आपको अपना वैभव दिखाना चाहता है। ताकि आपको हतप्रभ कर सके। साधु ने जवाब में कहा कि हम भी दिखा देंगे कि हम क्या हैं ?

जिस रोज नगर में प्रवेश हुआ, कहीं पर वर्षा नहीं हुई थी। परन्तु वह साधु घुटने तक कीचड़ से भरे पैरों को कालीनों पर रखता हुआ वहाँ पर आया। बादशाह ने उसका स्वागत किया और पूछा—“मित्र ! यह कीचड़ कहाँ से लगा गया ?” साधु ने जवाब दिया—“तुम कालीन बिछवाकर अपना वैभव दिखाना चाहते हो तो हम भी उन पर कीचड़ के पैरों से चलकर अपना फकीरीपना दिखाते हैं।” यह जवाब सुनकर बादशाह ने कहा कि, “मैं स्मझता था आप फकीर हैं, आपमें बहुत बड़ा फर्क पड़ गया होगा। परन्तु लगता है जहाँ मैं हूँ वहीं आप हो। मैं पाकर उसका दम्भ पुष्ट करता हूँ आप त्याग कर उसी दम्भ को पुष्ट कर रहे हो।”

क्या यही कहानी हमारी नहीं है ? ग्रहण का अहंकार तो कदाचित् त्याग से छूट जावे परन्तु त्याग का अहंकार तो मरने पर भी साथ जाता है। हमने जो-जो अहंकार त्याग के साधन थे उन्हें अहंकार करने का साधन बना लिया। त्याग का-ज्ञान का अहंकार सबसे बड़ा अहंकार होता है। ज्ञान और त्याग तो अहंकार के नाश के कारण थे। हमने तो दुवाई का ही अजीर्ण कर लिया, तब बीमारी कैसे मिटे। पर तो पर था ही उसे क्या छोड़ना ? छोड़ना तो पर का अहंकार था सो हमने उसे छोड़कर उस छोड़ने का अहंकार रख लिया। हमें अपने में खोजना है कि कहीं इस अहंकार ने त्याग के पीछे अपने पैर तो नहीं जमा रखे हैं ? हर एक आदमी यह अपेक्षा रखे हुए है कि लोग मुझे कहें या अपने में समझें कि मैं भी कुछ हूँ, जानी हूँ, धर्मात्मा हूँ। क्या यह अपेक्षा अहंकार नहीं है ? हमारा ज्ञान और त्याग आत्म-कल्याण का साधन न बनकर अहंकार करने का साधन बन गया। देखें ! कहीं यह गलत तो नहीं है ?

कर्म की अमानत

एक मौलवी जी के दो पुत्र थे, एक १७ वर्ष का और दूसरा १८ वर्ष का।

अक्सर मौलवी जी अपने लड़कों के साथ ही खाना खाया करते थे। एक दिन अकस्मात् किसी दुर्घटना में उनके दोनों लड़के मर गए। लोग उन दोनों के शव लेकर घर आए। मौलवी साहब घर पर न थे। उनकी पत्नी ने वे लाशें एक कमरे में रखवा लीं और उन पर चादरें ढंक दीं। मौलवी साहब जब खाने के लिए घर आये तो इस घटना से बेखबर उन्होंने पूछा—“आज लड़के नहीं आये क्या ?” स्त्री बोली—“आते ही होंगे, आप तो खाना खा लो।” मौलवी जी खाना खाने को बैठे। स्त्री बोली—“आपसे एक बात पूछनी है। बरसों पहले एक आदमी मुझे दो रत्न दे गया था, आज वह अपने रत्न वापिस लेने आया था, उसको दे दूँ क्या ?” मौलवी जी बोले—“क्या यह बात भी पूछने की है ! दे क्यों नहीं दिया।” कुछ देर बाद स्त्री ने फिर पूछा—“क्या वे दोनों रत्न उसे दे दूँ ?” मौलवी जी बोले—“ये बात बार-बार क्यों पूछ रही है। दे ही देना चाहिए था।” खाना खाने के बाद मौलवी जी ने कहा कि, “लड़के अभी तक नहीं आये ?” स्त्री ने कहा—“आइए ! मैं बताती हूँ।” और उनको उस कमरे में ले गई जहाँ लाशें ढंकी पड़ी थीं। स्त्री ने चादर हटाई और कहा कि वे दोनों रत्न वापिस कर दिये हैं। मौलवी जी एक बार तो हक्के-बक्के रह गये, फिर हँस पड़े और बोले कि जब दे ही दिये थे, तब मेरे से क्या पूछ रही थी ?

हमारा जीवन भी इसी प्रकार है। हम भी परभव से आये हैं; आते हुए कुछ साथ लाये नहीं, जायेंगे तब कुछ साथ लेकर जायेंगे नहीं। कर्म के उदय के अनुसार कुछ संयोग मिला है। कर्म ने अपनी चीज़ लाकर हमारे पास रखी है। जब वह जायेगा अपनी ले जायेगा। जो लाया वह भी उसी की है, हमारी नहीं है; जो ले जायेगा वह भी उसी की है, हमारी नहीं है। हमारा अपना तो हमारा चैतन्य है जो किसी का लाया हुआ नहीं है, कोई लेकर भी नहीं जा सकता। इसके अलावा सभी कर्म का है। कर्म की चीज़ में अपनापना मानना यही अज्ञानता है। जब अपनापना मानते हैं तब उन चीज़ों में अहंकार पैदा होता है, कर्म ले जाता है तब रोते हैं। अगर कर्म के कार्य को कर्म का ही मानें तब न तो रोना पड़े और न अहंकार पैदा हो। यह मत सोचो कि हमारा इतना चला गया। जो गया वह भी कर्म का है और जो शेष

बचा वह भी कर्म का ही है। वह अपना सब कुछ ले जा सकता था। अगर कुछ छोड़ गया तो यह उसकी मेहरबानी है।

आत्मा अपनी अज्ञानता से बँधा है !

एक बन्दर था। उसने चने लेने के लिए एक छोटे मुँह के घड़े में हाथ डाला और चने मुट्ठी में भर लिये। अब छोटे मुँह के घड़े से बंद मुट्ठी कैसे निकले ? वह समझता है कि घड़े ने मुझे पकड़ लिया, इसलिए मुट्ठी खोलने की चेष्टा नहीं करता; यह नहीं समझता कि घड़े ने मुझे नहीं पकड़ा; मैंने ही मुट्ठी बाँध रखी है, इसलिये बँधा हुआ हूँ। अगर मुट्ठी खोल दूँ तो खुला हुआ ही हूँ।

जब तक इस प्रकार अपनी सही स्थिति को नहीं समझेगा, तब तक बँधा ही रहेगा। यही बात हमारी है। हम मानते हैं कि कर्म ने हमें बाँध रखा है और समूचा दोष कर्म का ही देखते हैं, अपने दोष को नहीं देखते। यह समझना चाहिए कि यदि मैं कषायरूप परिणमन न करूँ तो खुला ही हूँ। जब तक हम अपना दोष न समझ कर पर का दोष समझेंगे, तब तक अपनी गलती को दूर करने का पुरुषार्थ हम में जागृत नहीं होगा। यह जीव पर में, शरीरादि में अपनापना स्वयं ही मानता है और गलती कर्म की बताता है। आप अपने स्वरूप को समझने की चेष्टा करें तो कर्म अपने आप ढीला हो जाता है। जहाँ अपने स्वभाव को अपने रूप देखा कि मिथ्यात्व कर्म का अभाव हुआ। यदि यह जीव अपने स्वभाव का अवलम्बन ले तो चारित्र-मोह कर्म उदय में आने की जगह उदयाभावी क्षय हो जाए। परन्तु जब आप ही कषाय रूप परिणमन करना चाहें तब कर्म क्या करे। पानी पर कोई तैरे तो पानी 'ना' नहीं करता, डूबे तो पानी विरोध नहीं करता। हम स्वयं ही अपना सिर पत्थर से फोड़ते हैं और कहते हैं कि पत्थर ने सिर फोड़ दिया। दूसरे को सही करने की चेष्टा करना व्यर्थ है। अपने को ठीक करने का उपाय करें; यही सही मार्ग है।

आत्मा का रोग राग-द्वेष

सनत्कुमार नाम के एक चक्रवर्ती हुए। उनका शरीर बहुत सुन्दर था। देवों की सभा में उनकी सुन्दरता की चर्चा हुई। दो देव उनकी सुन्दरता देखने आये। सनत्कुमार उस समय अखाड़े में कुश्ती लड़ रहे थे। देवों ने उनसे कहा कि आपकी सुन्दरता के बारे में जैसा सुना था, वह उससे भी बढ़-चढ़कर है। चक्रवर्ती ने कहा, “सुन्दरता तो जब राजसिंहासन पर बैठूँ तब देखना।”

कुछ समय बाद जब दोनों देव राजभवन में गए। चक्रवर्ती सुन्दर आभूषण पहने हुए राजसिंहासन पर बैठे थे। देवों ने देखकर छी:-छी: किया। चक्रवर्ती ने पूछा—“क्या हुआ ?” देवों ने कहा कि आपका सारा शरीर तो कोढ़ से भर गया है। चक्रवर्ती ने शरीर को देखा। एक धक्का लगा, जो कुछ समय पहले इतना सुन्दर था वह अचानक कैसा हो गया। सनत्कुमार को शरीर की असारता देखकर वैराग्य हो गया और वे जंगल में जाकर मुनि हो गये। तपस्या करने लगे।

कुछ दिन बाद उनमें से एक देव वैद्य का रूप धारण करके उस साधु के पास आया और बोला—“महाराज ! मैं बहुत बड़ा वैद्य हूँ, मैं आपके कोढ़ का इलाज कर सकता हूँ।” साधु ने कहा—“यह तो शरीर का रोग है। मुझे तो राग-द्वेष रूपी रोग हो रहा है। अगर आत्मा के इस रोग का नाश कर सकते हो तो कर दो। इस रोग का नाश कोई दूसरा नहीं कर सकता, इसका नाश तो मुझे ही करना होता है।” वैद्य वेशधारी देव ने हाथ जोड़ कर चरण छू लिये और कहा—“भगवान मुझे क्षमा करें। मैं तो आपकी परीक्षा ले रहा था।”

कुष्ठ आदि तो शरीर के रोग हैं जो कि कर्म के आधीन हैं। आत्मा का रोग राग-द्वेष रूपी रोग है। जिस आत्मा में जितना ज्यादा राग-द्वेष है वह

उतनी ही रोगी और दुखी है। पहले यह निश्चय करें कि मुझे राग-द्वेष रूपी रोग है। इसलिए मैं दुःखी हूँ। फिर यह निश्चय करें कि यह राग-द्वेष किसी दूसरे की वजह से नहीं हुआ है। मैंने शरीर और कर्मफल में अपनापना माना है, इससे हुआ है। शरीर में अपनापना अपने स्वरूप को जानने से मिटेगा। फिर चेष्टा करके अपने स्वरूप को आगम से समझें और अपने में अपने को शरीर से अलग देखें। रोगी जिस प्रकार रोग से बचने की चेष्टा करता है, रोग के आने से पहले ही उसके कारणों से बचता है और रोग होने पर उसको बढ़ने नहीं देता। तत्काल उसके नाश का उपाय करता है। वैसे ही आत्मा में राग-द्वेष रूपी रोग के उत्पन्न होने के कारणों से बचें। रोग-द्वेष हो गया है तो उसको मिटाने का बलशाली उपाय करें। रात-दिन यह धुन रहे कि मेरा यह रोग कैसे मिटे। उसका उपाय मात्र एक है—बाहर से हटकर अपने में अपने चैतन्य स्वभाव में लगना जिसकी भरसक चेष्टा करें। परन्तु हमें शरीर के रोग की तो चिंता है, आत्मा राग-द्वेष से कितनी पीड़ित है, इसकी परवाह नहीं है। इस राग-द्वेष रूपी रोग को मिटाने के जो विशेषज्ञ हैं उनको खोजें और उनके बताये मार्ग पर चलें, तो रोग मिटे। आत्मानुभव रूपी दवा लें और संसार-शरीर-भोगों का परहेज करें तब यह रोग मिटे।

कोई किसी का नहीं

एक सेठ का बेटा घर में बैठा था। बाहर से एक साधु जा रहा था, गाता हुआ 'इस जगत में कोई न किसी का!' लड़के ने सुना। बाहर आकर साधु से बोला—“बाबाजी ! यह बात सही नहीं; मेरा बाप है, माँ है, स्त्री है, मेरे खाना खाये बिना वे खाना नहीं खाते, एक घड़ी भी मुझे न देखें तो उन्हें आकुलता हो जाती है।”

बाबाजी ने कहा—“अगर तुम्हें परीक्षा लेनी है, तो कल तुम साँस रोक कर पड़ जाना और फिर तमाशा देखना।”

लड़के ने यह स्वीकार कर लिया, तब बाबाजी उसे साँस रोकने की कला सिखाकर चले गये। अगले दिन ठीक समय पर लड़का साँस रोककर

पड़ गया। घर वाले बाबाजी को ले आये और कहा— किसी तरह हमारे लड़के को जीवित कर दें। माँ ने, बाप ने, स्त्री ने कहा कि हम उसके लिये अपना जीवन देने को तैयार हैं। बाबाजी ने कहा— जब उसके लिये इतने लोग अपनी जान देने को तैयार हैं तो इसका जिन्दा होना कोई मुश्किल नहीं है। बाबाजी ने एक गिलास पानी मंगाया और उसमें मंत्र पढ़कर कुछ राख डाली और कहा जो इसे पियेगा वह मर जायेगा और यह लड़का ठीक हो जायेगा। पहला नम्बर माँ का था। माँ ने सोचा— मैं मर गयी तो क्या बाकी रहेगा, मेरे तो तीन लड़के और हैं, मैं उनमें सब्र कर लूंगी। जब उसने गिलास नहीं पकड़ा तो दूसरा नम्बर बाप का आया। उसने सोचा— जिसने जो महीने पेट में रखा वही पीने को तैयार नहीं है, तो मेरा क्या ! तीसरा नम्बर स्त्री का आया। उसने सोचा— मर कर क्या होगा, बाप के पास भी पैसा है, ससुर के पास भी, खाने-रहने की तकलीफ तो है नहीं ! इस प्रकार उसने भी हाथ खींच लिया। अंततः वे सब बोले— बाबाजी आप ही इसको पी लो। लड़का, जो अब तक यह सब सुन रहा था, उठ बैठा और बाबाजी के साथ चला गया।

अब हमारी बात है। संसार का यही स्वरूप हम चौबीसों घंटे देख रहे हैं— सभी अपने-अपने स्वार्थ में लगे हुए हैं। फिर भी हम अपना-अपना कहकर अनेक प्रकार के अन्याय-अनाचार करके भोगों की पूर्ति करते रहते हैं। घर के लोगों का भी जब तक हमसे स्वार्थ सघता है तभी तक वे हमें अपना कहते हैं। इतना सब देखते हुए भी यह जीव सावधान होकर अपना कल्याण नहीं करता।

संसार वृक्ष !

एक परदेसी जंगल में जा रहा था। उसके पीछे एक हाथी पड़ गया। हाथी से बचने के लिये भागते-भागते वह एक पेड़ की डाल पकड़ कर लटक गया। जब उसने नीचे की तरफ देखा तो वह एक कुँए में लटक रहा था। जिसमें चार साँप बैठे थे। उधर वह हाथी पेड़ को उखाड़ रहा था। उस आदमी ने

ऊपर की ओर देखा तो दो चूहे उसी डाल को काट रहे थे जिसे पकड़ कर वह लटका हुआ था। जब डाली को पकड़ कर लटका तब डाली को झटका लगा और उसी वृक्ष पर लगा मधुमक्खी का एक छत्ता हिल गया। मधुमक्खियाँ उसके शरीर से लिपट गयीं और काटने लगीं। परदेसी ने जब ऊपर की तरफ मुँह किया तो मधु की एक बूंद उसके मुँह में पड़ गयी। उसी समय एक विद्याधर विमान में बैठकर वहाँ आया और बोला—“मुझे अपना हाथ पकड़ा दे ! मैं तुझे अपने विमान में बैठाकर मौत के मुँह से तुझे बचा लूँ !” परदेसी ने कहा—“ठहरो ! एक बूंद शहद की और गिर जाने दो।” और इसी प्रकार शहद की एक-एक बूंद के लोभ में लटका हुआ वह मृत्यु को प्राप्त हो गया।

इसी प्रकार, क्या यही दशा हमारी नहीं है ? हाथी मृत्यु का प्रतीक है। कब आयु रूपी वृक्ष उसके द्वारा उखाड़ दिया जायेगा, मालूम नहीं। दो चूहे दिन-रात के प्रतीक हैं। सदा आयु का एक-एक क्षण कम होता जा रहा है। कब डाल टूट जायेगी, पता नहीं है। नीचे गिर कर चार गतियों में भ्रमण करना है। वे चार साँप चार गतियों के प्रतीक हैं। मधुमक्खियों के रूप में स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धी-जन चौबीसों घंटे इससे चिपटे हुए इसे काट रहे हैं। विषय-भोगों की चाहरूपी मधु-बूंद से लालायित हुआ यह भी गुरु के बताये मार्ग पर चल कर कल्याण करने को तैयार नहीं है। बार-बार श्रीगुरु सम्बोधन करते हैं। परन्तु यह “ठहर ! ठहर !” कह कर मृत्यु के नजदीक पहुँचता जा रहा है।

मरण निश्चित है !

एक बार गौतम बुद्ध अपने राजमहल से निकल कर, रथ में बैठकर घूमने चले। वे अपने जीवन में पहली बार ही बाहर निकले थे। सामने से एक रोगी व्यक्ति आता दिखाई दिया। रोग के कारण उससे चला नहीं जा रहा था। बुद्ध ने सारथी से पूछा—“यह क्या है, यह व्यक्ति इस प्रकार क्यों चल रहा है ?” उसने कहा—“महाराज यह रोगी है।” बुद्ध ने पूछा—“क्या

मुझे भी रोग हो सकता है ? क्या मेरी भी ऐसी दशा हो सकती है ?” सारथी ने कहा—“हाँ महाराज !” रथ आगे चला। थोड़ी दूर पर एक वृद्ध मिला, बहुत बूढ़ा था। बुद्ध ने सारथी से फिर पूछा—“यह कौन है ? यह ऐसा क्यों है ?” सारथी ने कहा—“महाराज ! यह बूढ़ा हो गया है।” बुद्ध ने पूछा—“क्या सबको बूढ़ा होना पड़ता है ?” सारथी ने कहा—“हाँ महाराज !” बुद्ध को फिर एक झटका लगा कि मेरी भी ऐसी दशा हो जायेगी तब क्या होगा ? रथ आगे बढ़ा। कुछ लोग एक मुर्दे को ले जा रहे थे। बुद्ध ने सारथी से पूछा—“यह क्या है ?” सारथी ने कहा—“महाराज ! यह मर गया।” बुद्ध ने पूछा—“क्या सबको मरना पड़ता है ?” सारथी ने कहा—“हाँ महाराज ! मरना तो सबको ही पड़ता है।” बुद्ध को फिर एक झटका लगा कि मेरी भी यही दशा होगी ! वे विचार करने लगे कि जिस संसार में रोग होना, वृद्ध होना और अंत में मृत्यु होना निश्चित है वह संसार रहने लायक नहीं है। और इसी प्रकार चिंतन करते हुए वे वैराग्य को प्राप्त हो गये।

अब अपनी बात है। हम भी रोज यह देखते हैं परन्तु हमारे अंतस् में कोई झटका नहीं लगता क्योंकि हम सोचते हैं कि यह दशा इसकी हुई है, हमारी नहीं होगी ! दूसरे को मरते देखकर यह कहते हैं, २० वर्ष का मर गया; परन्तु यह नहीं सोचते हम पचास वर्ष के हैं, हम अछूते कैसे घूम रहे हैं ! अगर संसार की सभी बातें अपने पर घटाना शुरू कर दें तो वास्तव में इस संसार से हमें भी वैराग्य हो जाये। यही सच्चा स्वाध्याय है। शास्त्रों का अध्ययन तो इसी स्वाध्याय के लिये किया जाता है। यही असली स्वाध्याय है, परन्तु हम तो शास्त्र पढ़कर ही संतुष्ट हो जाते हैं। सड़क पर चलने वाला भिखमंगा भी हमें शिक्षा दे रहा है कि मैंने पूर्वकाल में सप्तव्यसन का सेवन किया है इसलिये मेरी यह हालत हुई है, तू भी करेगा तो तेरी भी यही हालत होगी। रास्ते चलता पशु भी यह शिक्षा देता है कि मैंने भोगों में आसक्ति की, अन्याय, अभक्ष्य का सेवन किया, इसलिए मेरी यह हालत हुई। तू भी करेगा तो तेरी भी यही हालत होगी। अगर शिक्षा लेनी चाहें तो शिक्षा अवश्य मिल सकती है, परन्तु हम तो अंधे हैं, दूसरे को देखकर

हँसते हैं, अपने विषय में नहीं सोचते।

हमारा अहम्

एक बार एक व्यक्ति ने पत्थरों के एक ढेर से एक पत्थर उठा लिया और उसे जोर से ऊपर फेंका। जाते-जाते उस पत्थर ने दूसरे पत्थरों से कहा—“मैं अब अंतरिक्ष में जा रहा हूँ, कुछ रोज बाद वहाँ की खबर लेकर आऊँगा। बीच में मुझे कोई नहीं रोकेगा। जो मुझसे टकराएगा, चूर-चूर हो जावेगा।” वह पत्थर जाकर किसी के घर में लगी काँच की एक खिड़की से भिड़ा। काँच फूट गया। पत्थर ने कहा—“मैंने पहले ही कहा था जो मेरे से भिड़ेगा वह चकनाचूर हो जायेगा।” फिर वह कमरे के भीतर रखे सोफे पर पड़ा, कहने लगा—“मेरे स्वागत के लिये पहले से सोफा बिछा हुआ है” गृहस्वामिनी ने जब उस पत्थर को देखा तो वह उसे उठाकर बाहर फेंकने के लिए आयी। पत्थर ने कहा, “गृहलक्ष्मी भी मेरा स्वागत करने के लिये आ रही है।” घर की मालकिन ने पत्थर को खिड़की से वापिस फेंका तो पत्थर ने कहा, “अब मैं वापिस अपने परिवार के पास जा रहा हूँ।” और वह पत्थर अपने साथी पत्थरों पर गिर पड़ा।

अब अपनी बात है। क्या इसी तरह से हम अपना अहंकार पुष्ट नहीं कर रहे हैं ? कर्म के उदयानुसार संसार में संयोग-वियोग हो रहा है और हम मान रहे हैं कि मैंने कमाया, मैंने दूसरे का ऐसा कर दिया, मैं ऐसा हूँ, मैं ऐसा कर सकता हूँ, मेरे बिना कुछ नहीं हो सकता, इत्यादि। इस प्रकार यह जीव अपने अहंकार में पागल हो रहा है। कार्य कर्मानुसार होता है। जबरदस्ती ही यह उसका कर्ता बन रहा है। सुम्यक् मान्यता तो यह है कि कार्य कर्मानुसार होता है, मैं तो मात्र ज्ञान का मालिक हूँ, कर्म के कार्य का कर्ता नहीं हूँ। मात्र ज्ञाता हूँ। ऐसी मान्यता तभी सम्भव है जब इस जीव को अपने स्वभाव का ज्ञान हो। पर का कर्तापना, अहम्पना ही संसार की जड़ है। यह आत्मस्वरूप को जाने तो वह जड़ कटे। लोक में भी कर्म के कार्य को कर्म का माने उसका कर्ता न बनें, मात्र ज्ञाता रहे तो समस्त आकुलता से

रहित हो सकता है। ज्ञानी-अज्ञानी में यही फर्क है; अज्ञानी पर का कर्ता बनकर अहंकार करता है, ज्ञानी ज्ञाता रहकर अकर्ता रहता है।

कमाल का कमाल

कबीर दास का बेटा था, कमाल। एक बार बनारस के राजा कमाल के पास आए। उन्होंने सुना था कि कमाल कबीर से भी बड़ा वैरागी है। राजा ने जाकर एक हीरा कमाल को भेंट देना चाहा। बोले कि मैं यह हीरा आपको भेंट करना चाहता हूँ। कमाल ने बिना देखे ही कह दिया कि झोंपड़े में कहीं रख दो। राजा ने झोंपड़े की छत में घास-फूस के छप्पर में वह हीरा खोंस दिया। राजा ने सोचा कि कमाल ने तो इतना भी नहीं कहा कि क्यों लाये हैं, मुझे नहीं लेना है; बड़ा लोभी मालूम होता है।

इसके बहुत दिन बाद एक दिन वह राजा फिर कमाल के झोंपड़े में पहुँचा। कमाल से बोला कि कुछ रोज पहले मैं एक हीरा दे गया था। कमाल ने कहा कि जहाँ रखा था वहीं देख लो। राजा ने देखा, हीरा वहीं घास में खोसा हुआ था। राजा अपने परिणामों पर लज्जित हुआ और कमाल से माफ़ी मांगकर चला गया।

इसको कहते हैं निरपेक्ष-व्रती, अगर यह भी कहता कि क्यों लाये हैं, मैं हीरे का क्या करूँगा; तो भी उसकी दृष्टि में यह हीरा है, कीमती है—यह बात आती है। परन्तु यहाँ तो हीरा और काँच में कोई फर्क ही नहीं रहा। राजा ने तो हीरा समझ कर दिया, परन्तु कमाल तो उसे लेने और वापिस करने, दोनों ही से अछूता रह गया। इसी को कहते हैं उदासीनता, विरक्ति अथवा घर में ही वैराग्य।

अपना सो अपना, पराया सो पराया

एक सेठ का पुत्र बचपन में खो गया। बहुत खोज करने पर भी नहीं मिला। इस घटना के लगभग छह वर्ष बाद सेठजी ने एक लड़के को अपने यहाँ घर

की सफाई करने, बर्तन मांजने के लिये रख लिया। जब वह लड़का काम करता तो सेठानी उस पर चिल्लाती ही रहती कि कामचोर है, बहुत खाता है। वह उसे खाने को भी पूरा नहीं देती थी। कुछ दिनों बाद इत्तफाक से पता चला कि यह तो हमारा ही खोया हुआ लड़का है। सेठानी अब उसकी पूरी देख-रेख करती। अपने हाथ से खाना खिलाती; कहती—तूने तो अभी कुछ खाया ही नहीं है। कामकाज को हाथ नहीं लगाने देती। कल और आज में इतना फर्क कैसे पड़ गया। क्योंकि कल तक वह पराया था, आज अपना पुत्र है।

इसी प्रकार हमने भी अपनी आत्मा को तो परायी समझ रखा है और शरीर को अपना समझ रखा है। हम उल्टी चक्की चला रहे हैं। पराया होते हुए भी उसे अपना समझ कर उसकी परवाह करते हैं। इसके विपरीत जो वास्ताव में अपना है उसका अहित करके भी इस पराये का—जिसे भूल से अपना समझ रखा है, हित करने की चेष्टाओं में लगे रहते हैं।

जब भेदविज्ञान के द्वारा सही समझ आती है तब हमारा व्यवहार और आचरण भी बदल जाता है। जो व्यवहार अब तक शरीर के प्रति था वैसा तो आत्मा के प्रति हो जाता है और जो आत्मा के प्रति था वह शरीर के प्रति हो जाता है, यही भेदविज्ञान की महिमा है।

हमारा दृष्टि दोष

एक बार कहीं रामायण का पाठ हो रहा था। किंवदन्ती है कि जहाँ रामायण का पाठ होता है, वहाँ हनुमान किसी-न-किसी रूप में बैठे रहते हैं। कथा-वाचक पंडितजी बोले कि जब हनुमान अशोक वाटिका में गये तो वहाँ पर जो फूल थे, वे सफेद थे; हालाँकि ग्रन्थ में लाल लिखा था।

इस पर कुछ श्रोताओं ने कहा कि ग्रन्थों में तो लाल लिखा है। फिर आप सफेद क्यों कह रहे हैं? पंडितजी भी अकड़ गये और कहा कि मैं

कहता हूँ फूल सफेद थे।

वहीं हनुमान बैठे थे, उन्होंने कहा—मैं हनुमान हूँ, मैं कहता हूँ—लाल थे। पंडित जी फिर भी अपनी बात पर अड़े रहे।

अंततः इसके निर्णय के लिये सभी लोग रामचन्द्रजी के पास पहुँचे। रामचन्द्रजी बोले, “फूल तो सफेद थे। परन्तु हनुमान की आँखों में इतना क्रोध था कि उन्हें फूल लाल दिखाई दे रहे थे।”

यही हालत हमारी है। न कोई वस्तु इष्ट है, न अनिष्ट; वस्तु तो अपने रूप है; परन्तु हमारा जैसा दृष्टिकोण है वैसी ही दिखाई देने लगती है। हम समझते हैं वस्तु वैसी है और उसको ठीक करने की चेष्टा करते हैं, परन्तु वस्तु वैसी है ही नहीं, तो हमारे ठीक करने की चेष्टा करने पर भी ठीक कैसे हो ? हमें समझ में आना चाहिए कि गलती हमारी दृष्टि की है। अगर हम अपना दृष्टिकोण सही कर लें तो वस्तु जैसी है; वैसी ही दिखाई देगी। कसूर वस्तु का नहीं, कसूर हमारे दृष्टिकोण का है। जैसे पीलिये के रोगी को सब चीजें पीली दिखाई देती हैं। परन्तु वस्तु पीली नहीं, हमारी आँख में दोष है। अपना दोष न समझकर हम वस्तु का पीलापना मिटाना चाहें तो नहीं मिट सकता। परन्तु अपना दृष्टि दोष समझकर हम दोष मिटाना चाहें तो मिटा सकते हैं। इसी प्रकार स्त्री न स्वर्ग है, न नरक है। यदि वह नरक दिखाई देती है तो भी दृष्टि दोष है और उसकी वजह से उससे भाग रहे हैं। अगर स्वर्ग दिखाई दे रही है तब भी दृष्टि दोष है और उसकी तरफ भाग रहे हैं। जिसका दृष्टिकोण सही हो गया उसके लिये न स्वर्ग है, न नरक है। न उसके पीछे दौड़ना है न उससे दौड़ना है, वह अपने आप में ठहरा है। यही सही वस्तु-स्वरूप है। अज्ञानी अपना दृष्टि-दोष न समझकर, पर को ठीक करने की चेष्टा करता है। ज्ञानी अपना दृष्टि-दोष समझकर अपने को ठीक करने की चेष्टा करता है। इसलिये ज्ञानी का आचरण सम्यक् है, अज्ञानी का आचरण मिथ्या है।

असली नकली की पहचान

एक बड़ा जौहरी था। उसका बहुत नाम था, परन्तु जीवन के अंतिम समय में उसके पास बिल्कुल पैसा नहीं रहा। जब वह मरने लगा तो नकली चार हीरे अपने पुत्र को देखकर बोला, “इन्हें संभालकर रखना, ये तेरे काम आयेंगे। इनसे बड़ा व्यापार करना।” जौहरी मर गया।

लड़का चारों हीरे लेकर अपने चाचा की दुकान पर गया और कहा, “मुझे व्यापार करना है, मेरे पिता ये हीरे दे गये हैं।” चाचा ने देखा और सोचा कि ये हीरे तो नकली हैं। परन्तु यदि नकली बताता हूँ तो यह लड़का समझेगा कि चाचा ठगना चाहता है। अतः उसने कहा, “ये हीरे तू अपनी माँ के पास रख दे और पहले यहाँ दुकान पर बैठकर हीरे की पहचान सीख।” लड़का चाचा की दुकान पर आने लगा। थोड़े ही दिन में असली-नकली की अच्छी पहचान समझ गया। तब एक दिन चाचा ने कहा, “अब तू अपना काम अलग कर ले।” वह अपनी माँ के पास गया और अपने पिता के दिये हुए हीरे माँगे। हीरों की डिबिया खोलते ही उसने पहचान लिया कि ये नकली हैं और इसके साथ ही उसका हीरों के मालिकपने का अहंकार भी खत्म हो गया।

अब अपनी बात है। एक आदमी ने नकली हीरे पहन रखे थे। उसे मालूम है कि यह नकली हैं। उस व्यक्ति को यह अहंकार नहीं हो सकता कि मैंने हीरे पहन रखे हैं, भले ही दूसरा यह समझे कि इसने असली हीरे पहन रखे हैं। जब असली वस्तु सामने आती है तो नकली वस्तु स्वयं ही नकली दिखाई देने लगती है। उसी के साथ नकली वस्तु के स्वामित्व का अहंकार भी खत्म हो जाता है। यही बात शरीरादिक और धनादिक के प्रति है। जहाँ आत्मज्ञान होता है शरीरादिक और धनादिक का असली स्वरूप समझ में आ जाता है, वहाँ उसी के साथ उनमें जो अहंकार होता है वह भी खत्म हो जाता है।

तालाब में भी मगर प्यासा !

एक तालाब में एक मगरमच्छ रहता था। किसी साधु से एक आदमी ने पूछा—“महाराज ! आत्मा कैसी होती है ? आत्मिक सुख कैसा होता है ?” तो साधु ने उस मगरमच्छ का हवाला दिया और कहा—“कुछ रोज पहले मैं उस मगर को सुख दिया था, तुम उससे ले लो।”

वह आदमी उस मगर के पास गया और बोला कि साधु महाराज ने जो सुख आपको दिया था वह मुझे भी दे दो।

मगर ने कहा—“मैं प्यासा हूँ, पहले मुझे थोड़ा पानी पिला दो, फिर मैं तुम्हें सुख दूँगा।”

वह आदमी बोला—“तुम तालाब में रहते हो और फिर भी प्यासे हो ?”

मगर बोला—“यही बात तुम्हारे साथ भी लागू होती है। तुम स्वयं ही आत्मा हो और आत्मिक सुख को बाहर खोज रहे हो। अपने में देखो तो तुम सुखमय ही हो। अपने में नहीं खोजा, बाहर खोजते हो इसलिये आज तक नहीं मिला।”

आत्मिक सुख स्त्री, पुत्रादि, धन-दौलत में नहीं है। यह तो अपने में है। अपने में खोजो तो मिला ही हुआ है।

मैं अपना स्वभाव क्यों छोड़ूँ ?

एक साधु बाबा तालाब में नहा रहे थे। उन्होंने देखा कि एक बिच्छू पानी में डूब रहा है। करुणा करके जब वे उसे निकालने लगे तो उसने बाबाजी को डंक मार दिया। साधु बाबा का हाथ हिल गया। बिच्छू पानी में गिर गया। ऐसा कई बार हुआ। बाबाजी उसे बार-बार निकालना चाहते, किन्तु बिच्छू डंक मार देता।

एक आदमी किनारे पर खड़ा यह सब देख रहा था। उसने कहा—“बाबाजी ! क्या आप मूर्ख हैं ? यह बार-बार डंक मार रहा है, फिर भी आप इसको निकाले जा रहे हैं ?”

बाबाजी ने कहा कि जब यह तिर्यच होकर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता तो मैं मानव होकर अपना स्वभाव क्यों छोड़ूँ ?”

बात तो यही है। हर एक जीव का अपना-अपना स्वभाव है। जब दुष्ट अपनी दुष्टता नहीं छोड़ रहा है तो हम अपनी सज्जनता कैसे छोड़ें ? यदि हम यह मानते हैं कि यह दुष्ट है इसलिये इसके साथ दुष्टता का ही व्यवहार करना चाहिए, तब तो हम भी उसके साथ दुष्ट ही हो जायेंगे। उसका कार्य उसके आधार है और हमारा कार्य हमारे आधार है। हमारा कार्य हमारे स्वभाव को दिखा रहा है और उसका कार्य उसके स्वभाव को दर्शाता है। एक को दूसरे के स्वभाव की अपेक्षा नहीं रखना चाहिए, यही सही रास्ता है। हमें अपनी क्रियाओं को, व्यवहार को, दूसरे की क्रियाओं के प्रत्युत्तर-रूप में, उसकी प्रतिक्रिया (रिएक्शन) रूप में नहीं बनाना है। यही मानसिक शान्ति का मार्ग है।

“मैं” को खोना !

एक राजा परमात्मा की खोज में निकला। वह किसी आश्रम में गया। वहाँ के आचार्य ने कहा—“जो तुम्हारे पास हो उसे छोड़ दो।” उस राजा ने राज्य का त्याग कर दिया, सारी सम्पत्ति बाँट दी। उसके पास कुछ भी नहीं रहा। आचार्य ने उसे देखकर कहा कि जो तेरा नहीं था, उसे तो तुम छोड़ आये परन्तु जो तेरा था वही त्यागा जा सकता था, उसको छोड़ा नहीं।

राजा कुछ भी नहीं समझ सका। आचार्य ने राजा को आश्रम की सफाई करने का काम सौंपा। कुछ दिन बाद आश्रमवासियों ने आचार्य से प्रार्थना की कि राजा को इस कठोर कार्य से मुक्त कर दें। आचार्य ने कहा, “पहले परीक्षा लेनी होगी।” दूसरे दिन जब राजा कचरे की टोकरी सिर पर लेकर बाहर फेंकने को जा रहा था तो कोई व्यक्ति उससे टकरा गया। राजा ने उसे

कहा कि १५ दिन पहले इतने अंधे नहीं हो सकते थे ! आचार्य ने यह बात जानकर कहा कि अभी वह वही है। कुछ दिनों बाद फिर एक आदमी राजा से टकरा गया और कचरा नीचे गिर पड़ा। राजा ने उसकी तरफ कड़ी नज़र से देखा और कचरा उठाकर चला गया। परन्तु जो कहना था वह आँखों से कह दिया। कुछ महीनों बाद फिर कोई व्यक्ति टकरा गया। कचरा बिखर गया, परन्तु ऐसा लगा कि जैसे कुछ हुआ ही नहीं ! उस रोज आचार्य बोले कि अब इसका “मैं” मर गया। जिसको छोड़ना चाहिए था उसको अब छोड़ दिया है।

अब अपनी बात है। सम्पत्ति छोड़ना आसान है, परन्तु “मैं” छोड़ना बहुत कठिन है। “मैं” ही संसार है। जिसका “मैं” मर गया, उसका संसार खत्म हो गया। “मैं” मरने के बाद संसार में कोई रस नहीं रहता। लेकिन जो “मैं” से भरे हैं वे परमात्मा को नहीं जान सकते। परमात्मा पहचानने की शर्त है “मैं” को खोना। ईश्वर को खोजने कहीं शहर नहीं जाना है। अपने अंदर में ही है; मात्र उसे देखना है, खोजना है। वह प्राप्त होता है स्वबोध से।

तुम क्या हो ?

एक अंधा फकीर राजपथ पर खड़ा था और राजा की सवारी निकल रही थी। सबसे पहले चौबदार आया, जो सवारी के आने से पहले मार्ग की सफाई करा रहा था। उसने बूढ़े को धक्का देकर कहा कि मार्ग से हट ! दिखता नहीं कि राजा की सवारी आ रही है ? बूढ़ा हँसा और बोला, “मालूम होता है चौबदार साहब हैं।”

फिर कुछ देर बाद कलक्टर आया। उसने बूढ़े से कहा कि, “राजा की सवारी आ रही है। आपको हट जाना चाहिए।” बूढ़ा हँसा और बोला, “कलक्टर साहब मालूम देते हैं !”

कुछ देर बाद राजा के मंत्री आये और बूढ़े से कुछ कहे बिना ही बगल से अपने घोड़े को निकाल कर चले गये। बूढ़े ने कहा कि मंत्री महोदय जा

रहे हैं। इतने में राजा की सवारी आ गयी। बूढ़े को अंधा समझकर राजा नीचे उतरा और बूढ़े का हाथ पकड़ कर उसे किनारे खड़ा कर दिया। बूढ़ा हँसा और बोला, “राजा साहब आ गये हैं।”

अब हमारी बात है। हमारे पास क्या है इससे हमारी पहचान नहीं है। हमारी पहचान तो इससे है कि हम क्या हैं ! जैसे हम हैं वैसा ही सोचना, बोलना और करना हमें प्रगट करता है। जो स्वयं के इस अकृत्रिम व्यवहार को देखता है, निरीक्षण करता रहे वह स्वयं को प्राप्त कर सकता है।

राग-द्वेषरूपी चक्की

“चलती चाकी देख कर, दिया कबीरा रोय।

दो पाटन के बीच में, साबुत रहा न कोय।।”

एक औरत सुबह-सुबह चक्की चला रही थी। कबीर लौटते होंगे कहीं से प्रातः भ्रमण के बाद; देखा तो विचारने लगे कि सब पीसा जा रहा है ! घर लौटने पर उन्होंने यह दोहा रचा गुनगुनाते हुए। उनका बेटा कमाल भी बैठा सुन रहा था। बोला—“रुको, ठीक कहते हो, दो पाटों के बीच कोई भी साबुत नहीं बचा, लेकिन बीच में एक कील भी है, कभी उसका खयाल किया ? उसके सहारे जो अन्न के दाने लग जाते हैं वे नहीं पिसते, जो भी उस कील का सहारा लेता है वही बच जाता है।”

इस संसार में राग-द्वेष रूपी दो पाटों के बीच में यह आत्मा पिस रही है। सर्वप्रथम तो इस अनुभूति का होना जरूरी है कि मैं स्वयं इन दो पाटों के बीच पिसा जा रहा हूँ, इसलिए मैं महादुखी हूँ। यह अनुभूति हो तो इससे बचने का उपाय भी वहीं पर है। आत्मा के चैतन्य-स्वभाव रूपी कील का आश्रय यदि तूने ले लिया, उसको पकड़ लिया, तो हे आत्मन् ! फिर तुझे कोई पीस न पाएगा। चाहे जन्म आए या मृत्यु, चाहे सुख आए या दुःख, तुम इन सबसे दूर अछूते, अलग बने रहोगे। भोजन-पान करते समय, चलते-फिरते समय, बातचीत करते समय, सोच-विचार करते समय, सोते

समय—कभी भी उस कील को मत भूल जाना जो न कभी भोजन करती है, न चलती-फिरती है, न बातचीत करती है, न कभी सोती है और न ही विचार करती है, जो विचाररहित किन्तु फिर भी सदा सजग है। दुःख आए तो याद रखना उसे, जिस पर कभी दुःख नहीं पहुँचता। दुःख, सुख, प्रीति, अप्रीति, सफलता, विफलता—ये सभी द्वंद्व चक्के पर हैं; कील इन सभी से बाहर है। ऐसा ही द्वंद्वों के परे, कील की ही भांति अविचल, तू चैतन्य तत्त्व है। चक्की हरदम चल रही है और कील अपने स्थान पर स्थिर है। ऐसे ही हर समय परिणामन हो रहा है और चैतन्य स्वभाव सदा एकरूप विद्यमान है। तू अपनापन अपने चैतन्य स्वभाव में स्थापित कर और चलती हुई चक्की को देखता रह।

सभी अपनी आग में जलते हैं

एक बाबाजी यज्ञ करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने अपने शिष्य को आग लाने के लिए कहा। शिष्य चारों तरफ खोजकर आ गया। बोला—“आग तो कहीं भी मिल नहीं रही।” बाबाजी ने कहा कि आग तो कहीं न कहीं से लानी ही पड़ेगी। बाबाजी के आदेशानुसार शिष्य ने एक बार फिर सब ओर जाकर अच्छी तरह से खोजा, परन्तु उसे आग न मिली। आकर उसने बाबाजी से फिर निवेदन किया कि—“महाराज ! आग नहीं मिल रही।” बाबाजी ने क्रोध में कहा—“अगर कहीं नहीं मिलती तो जहन्नुम से ही ले आ।” शिष्य गुरु महाराज की आज्ञा का पालन करते हुए जहन्नुम में आग लाने के लिए गया, क्योंकि जहन्नुम में तो आग हर वक्त ही जलती रहती है।

उसने वहाँ जहन्नुम के दरवाजे पर खड़े द्वारपाल से कहा, “हमें यज्ञ के लिए आग ले जानी है; थोड़ी-सी दे दोगे ? सुना है कि यहाँ तो आग निरन्तर जलती रहती है !” द्वारपाल ने उत्तर दिया—“यहाँ पर आग कहाँ, यहाँ पर तो जो लोग आते हैं वह अपनी-अपनी आग साथ लाते हैं। सभी अपनी-अपनी आग में ही जलते हैं।”

क्या यही बात हम पर भी लागू नहीं हो रही ? हम भी अपने-अपने क्रोध, मान, माया-लोभ की आग में स्वयं को जला रहे हैं। जरा अपने भीतर झांक कर गौर से देखें तो पायेंगे कि हम सब अपनी-अपनी कषाय रूपी आग में ही जल रहे हैं। और दुःखी हो रहे हैं। कोई आदमी जल्दी में चला जा रहा था, हमको नहीं देख पाये, हमारी मान कषाय को धक्का लगा और हम सोच रहे हैं कि अब वह बड़ा आदमी हो गया, मेरे किए हुए उपकार को भूल गया, मेरी तरफ देखा भी नहीं। आपकी रोटी जहर हो गयी, आपका सोना हराम हो गया। ऐसा क्यों हुआ ? यह इसलिए हुआ क्योंकि आप अपनी मान कषाय की आग में जल रहे हैं।

हम चाहें तो अपने जीवन को स्वर्ग बना सकते हैं, और चाहें तो स्वर्ग को भी नरक बना सकते हैं। कोई दूसरा इसमें कारण नहीं है—हम स्वयं ही कारण हैं।

शरीर को मरते देख !

सिकंदर जब भारत से लौट रहा था तो वह कोई अद्भुत चीज़ यूनान ले जाना चाहता था। किसी ने बताया कि हिमालय की तराई में एक महान साधु बड़ा अद्भुत है। परन्तु उसे ले जाना असम्भव है। क्योंकि वह किसी की आज्ञा मानने वाला नहीं है। अपने मन का मालिक है। सिकंदर नहीं माना। बोला, “मेरी तलवार कब काम आएगी !” हालांकि लोगों ने कहा कि जो तलवार के भय से चला जाये वह साधु नहीं है। उसको साथ ले जाना बेकार है, तो भी सिकंदर ने अपने सेनापति को उस साधु के पास भेजा। सेनापति ने साधु को सिकंदर की आज्ञा बताई। साधु ने कहा—“हम किसी के आधीन नहीं हैं, हम तो केवल अपनी आज्ञा मानते हैं।” सिकंदर खुद आया, नंगी तलवार लेकर। बोला कि आपको हमारे साथ चलना है अन्यथा हम आपको समाप्त कर देंगे। साधु ने कहा, “जिसे तुम समाप्त करोगे, हम भी उसे समाप्त होते देखेंगे, जिस प्रकार तुम इस शरीर को कटता देखोगे, उसी प्रकार हम भी देखेंगे। क्योंकि तुम जिसे काटोगे वह मैं

नहीं है, मैं उससे अलग हूँ। जिस शरीर को तुम साधु समझ रहे हो वह मैं नहीं हूँ और, जो मैं हूँ उसका मरण हो ही नहीं सकता, उसको कोई काट ही नहीं सकता।”

चार दुःखों का मूल कारण है शरीर में अपनापना। राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण है शरीर में अपनापना। जितना शरीर को अपने रूप में देखोगे, उतना राग-द्वेष-मोह बढ़ेगा। जितना हम स्वयं को शरीर से अलग देखेंगे, मोह पिघलने लगेगा। दुःख का कारण राग-द्वेष है और राग-द्वेष का कारण शरीर को अपने रूप में देखना है। अपने को पहचाने बिना शरीर से अपनापन नहीं मिट सकता। शरीर से अपनापना मिटे बिना राग-द्वेष का अभाव नहीं हो सकता। राग-द्वेष के अभाव बिना जीव सुखी नहीं हो सकता। चाहे दूसरे लाखों उपाय कर लिए जायें परन्तु यदि शरीर में अपनापना न मिटे तो दुःख नहीं मिटता। जितना-जितना राग-द्वेष का अभाव होगा उतनी-उतनी आत्मा शुद्ध होती जाएगी। राग-द्वेष का सर्वथा अभाव होने से आत्मा परमात्मा हो जाएगी। इसलिए सभी उपायों से स्वयं को शरीर से भिन्न देखना है। वही सही साधन है जो चेतना को शरीर से भिन्न दिखाने में सहयोगी हों। जिसके द्वारा शरीर और आत्मा में एकपने की एकत्व की पुष्टि होती है, वे सही उपाय नहीं हैं। एक ही मंत्र है—मैं शरीर नहीं ! शरीर से अलग हूँ; इसी भावना को दृढ़ करना है। शरीर को अलग जानने का मार्ग ही तपस्या है। हर समय दुःख में, सुख में, पीड़ा में, मोह में, यह जानो कि मैं शरीर नहीं हूँ। भोजन करते, उपवास करते, कपड़ा पहनते, नग्न रहते, पूजा-दर्शन-स्तुति करते यह देखो कि मैं शरीर नहीं हूँ। जब रास्ता चलें तो पता चले कि शरीर चलता है, मैं तो केवल जान रहा हूँ। शरीर पर चोट हो तो समझ में आए कि शरीर पर चोट हुई है, मैं तो जानने वाला हूँ। तब यह अपना स्वामी आप हो जाता है। यही स्वाध्याय का फल है।

जो क्रिया इस भ्रम को तोड़े कि मैं शरीर हूँ वही धर्म क्रिया है। जो क्रिया इस भ्रम को पैदा करे कि मैं शरीर हूँ वही पाप-क्रिया है। निरन्तर यह देखना है कि कोई भी क्रिया, कोई भी सोच-विचार इस अज्ञान को घना तो

नहीं कर रही है, अन्यथा संसार बढ जाएगा। शरीर आत्मा को एक देखना अज्ञान है, भ्रम है और दो देखना ही विवेक है, सम्यक ज्ञान है। क्षण भर के भी यह भाव न आ जाए कि मैं शरीर हूँ। यही महापाप है। विचार और विवेक में अन्तर है। हमें विवेक प्राप्त करना है, विचार तो पढ़कर सुनकर भी आ सकते हैं। जब यह विवेक पैदा होगा तो आगे की सीढ़ी स्वयं दिखाई देने लगेगी।

जिसको आँख मिल गयी उसे रास्ता दिख गया

एक अंधा आदमी सड़क पर जा रहा था। किसी ने हाथ पकड़ कर उस सड़क पार करा दी। एक अन्य आदमी ने उसका हाथ पकड़ कर उसे उस गंतव्य तक पहुँचा दिया। अंधे ने उनका उपकार माना और सहारा देने वाले ने भी समझा कि हमने अच्छा काम किया है। परन्तु यदि कोई नेत्रदान आदि के द्वारा उसकी दृष्टि ही सही कर देता तो उसे अंधा नहीं रहना पड़ता, वह अपना रास्ता स्वयं ही देख लेता। उसको दूसरों की दया की जरूरत नहीं रहती।

विवेक ही वह अन्तर्दृष्टि है जिससे सभी उलझनें सुलझ जाती हैं अथवा, उलझने उत्पन्न ही नहीं होतीं। रास्ते तक पहुँचना तो एक उलझ को सुलझाना है परन्तु विवेक के अभाव में अन्य उलझनें तो उत्पन्न हो ही रहेंगी। असली गुरु शिष्य को अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने में सहायक होता है अज्ञानी गुरु शिष्य को अंधा रखना चाहता है जिससे उसको गुरु की जरूरत बनी रहे। असली गुरु उसको दृष्टि देता है जिससे शिष्य को उसकी जरूरत न रहे, वह अपना रास्ता स्वयं देखकर चल सके।

मेरा तो पीछे कुछ नहीं रहा !

एक राजा के महल के पास एक साधु रहता था। राजा एक दिन साधु पास आया और उससे अपने महल में चलकर रहने की प्रार्थना की। साधु

कुछ सोचकर राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली। राजा ने साधु को सोने के बर्तनों में भोजन परोसा, साधु ने भोजन कर लिया। राजा ने साधु को बेशकीमती वस्त्र पहनने की प्रार्थना की, साधु ने स्वीकार कर लिया। सुन्दर पलंग पर सोने के लिए कहा, उसे भी मंजूर कर लिया। कहने का तात्पर्य यह है कि वह राजा की तरह ही ऐशोआराम से रहने लगा। यह देख राजा को बहुत बेचैनी हुई। आखिर राजा ने एक दिन पूछ ही लिया कि अब आपमें और मुझमें क्या अन्तर है? साधु ने कहा कि घूमने चलो तब आपको बताएंगे। सबेरे राजा और साधु दोनों घूमने गए। शहर से दूर आए तो राजा ने कहा, महाराज ! वापिस चलना चाहिए, महल बहुत दूर छूट गया है। साधु ने कहा कि, राजन ! आपका सब कुछ पीछे छूट गया है, परन्तु मेरा तो पीछे कुछ भी नहीं छूटा। आपमें और मुझमें यही अन्तर है। पीछे आपका महल है, रानी है, आपका सब कुछ है। आपका सब कुछ पीछे रह गया है; इसलिए आपको वापस जाना है। परन्तु हमें तो आगे जाना है, हमारा पीछे कुछ भी नहीं है।

यही वह अस्पर्श योग है, चीजें हैं परन्तु अपनापन नहीं है। चीजों को काम में भी लिया, परन्तु अंतस में नहीं छुआ। यह तभी हो सकता है जब व्यक्ति भेद-विज्ञान को साधे, निरंतर जल में कमल की भाँति अकूता रहे। ऐसी भेद की भावना पैदा हो, ऐसा साहस पैदा हो तभी जीवन सफल है।

जहाँ खोया है वहीं खोज !

एक वृद्धा स्त्री (बुढ़िया) अपने घर के अन्दर बैठकर अपने कपड़े सी रही थी। इतने में ही उसकी सुई खो गई। वह उसे खोजने लगी, पर वहाँ अंधेरा था, अतः उसे सुई मिल नहीं रही थी। उसी समय एक आदमी वहाँ से निकला। जब उसने देखा कि बुढ़िया माँ कुछ खोज रही है तो करुणा करके पूछा—“माँ ! क्या कर रही हो ?”

बुढ़िया बोली—“बेटा ! मेरी सुई खो गई है। उसे खोज रही हूँ।”

वह आदमी बोला—“मगर माँ ! वहाँ तो अंधेरा हो रहा है। अंधेरे में

कैसे मिलेगी ? उजाले में खोजो।”

घर के बाहर बहुत उजाला था अतः बुढ़िया वहाँ आकर सुई खोज लगी।

यही हालत हमारी है। हमारी आँखें बाहर की तरफ देखती हैं, हमारे इन्द्रियों का व्यापार बाहर की तरफ है, इसलिए हम बाहर खोजते हैं परन्तु यह नहीं सोचते कि खोया कहाँ है ! खोया है अंतर में, अपने घर में और खोज रहे हैं मंदिर में, तीर्थों में, अन्य जगह पर भला कैसे मिले शास्त्र में आत्मा नहीं है। शास्त्र के द्वारा आत्मा के बारे में समझ कर जहाँ चैतन्य है वहाँ देखने से मिलता है। इसी प्रकार प्रतिमा के माध्यम से चेतन को समझ कर जहाँ है वहाँ देखना चाहिए।

एक सुई भी अगले जन्म में नहीं ले जा सकता !

गुरु नानक लाहौर के एक गाँव में ठहरे हुए थे। एक आदमी प्रतिदिन उनके पास आता था और बार-बार कहता था कि मेरे लिए कोई सेवा बतायें। एक बार गुरु नानक ने उसे एक सुई दी और कहा कि तुम्हारे लिए यही सेवा है कि इस सुई को मृत्यु के बाद अपने साथ ले जाना। वह आदमी घबराया कि जब मृत्यु होगी तब यह सुई कैसे साथ जा सकती है ! उसने वह सुई गुरु साहब को वापस दे दी और कहा कि मुझे क्षमा करें महाराज ! मुझ में ऐसी सामर्थ्य नहीं कि सुई को मृत्यु के बाद ले जा सकूँ।

क्या यही प्रश्न हम अपने आपसे नहीं पूछ सकते कि मेरे पास क्या है जो मैं अपने साथ लेकर आया था, और क्या है जो अपने साथ लेकर जा सकता हूँ ! हम न साथ लेकर कुछ आये हैं, न साथ लेकर जा सकते हैं; तब मात्र कुछ समय के लिए इतनी मारा-मारी किस बात की है ! एक आत्मज्ञानी ही है जो यह जानता है कि मेरी मृत्यु नहीं है। सब चला जाएगा किन्तु मैं नहीं जा सकता। सब खोयेगा परन्तु मैं नहीं खो सकता। वह आत्मा खोया ही नहीं जा सकता।

अपनी मृत्यु हर समय देखें

एक एकनाथ नामक साधु हुए। किसी ने उनसे पूछा कि क्या आपके भीतर वासना पैदा नहीं होती, विचार नहीं उठते, पशुता आपके भीतर गति नहीं करती? एकनाथ ने कहा कि इसका उत्तर मौका पड़ने पर दूंगा। कुछ दिन के बाद एकनाथ ने उस व्यक्ति से कहा—“तुम्हारी हस्त रेखा बता रही है कि तुम्हारी आयु मात्र एक सप्ताह की है; जो कुछ तुम्हें करना हो सो कर लो।” वह व्यक्ति उसी रोज से बिस्तर पर पड़ गया। खाना-पीना सब कुछ छुट गया। एक-एक मिनट गिनने लगा; एक-एक क्षण बीतना कठिन हो गया। सारी वासनाएं, सारे विचार खत्म हो गए। उनकी जगह केवल मृत्यु दिखाई देने लगी। सातवां दिन आया तो एकनाथ उसके पास गए। देखा सब तो रहे हैं। एकनाथ ने पूछा कोई इच्छा या वासना है? उसने कहा कि मैं तो मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। एकनाथ ने कहा कि यही हालत मेरी है। तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देने के लिए तुमको यह मृत्यु की बात कही थी। असल में तुम्हारी मृत्यु अभी नहीं है। मैं भी निरन्तर मृत्यु देखता हूँ इसीलिए मुझमें कोई वासना और विचार पैदा नहीं होता।

हम भी दूसरों को मरते देखकर यह कहते हैं कि बेचारा इतनी जल्दी मर गया, परन्तु हमें अपनी मृत्यु दिखाई नहीं देती; अगर अपनी मृत्यु दिखाई देने लगे तो विचार और वासना उठनी ही बन्द हो जाये।

सामान तो बचा लिया किन्तु मालिक मर गया !

एक मकान में आग लग रही थी। लोग सामान निकाल रहे थे। मालिक बाहर खड़ा रो रहा था कि थोड़ी देर में सब राख हो गया। लोगों ने अंतिम बार आकर पूछा कि कुछ बाकी तो नहीं रह गया है ! सब चीजें निकाल ली हैं न ? मालिक ने कहा—“मुझे कुछ याद नहीं आता; जो बचाया जा सके

बचा लो।” लोग भीतर गये, वापिस आये तो मालिक के इकलौते बेटे वंशव को लाए। लोग मकान का सामान बचाने में तो लग गये थे परन्तु मकान का एकमात्र मालिक जलकर मर गया था।

यही हमारी हालत है। हम सामान को, परिग्रह को तो बचा रहे हैं और भीतर में बैठा मालिक मर रहा है। पदार्थ में, वस्तु में, इतने लीन हैं कि अपने आप को भूल गये हैं; यही आत्मघात है। धन के लिए, शरीर के लिए, स्त्री-पुत्र के लिए, अनेक प्रकार की बेईमानी, झूठ, अन्याय करके उनको इकट्ठा करना चाहते हैं, उनको बचाना चाहते हैं। अपने आत्मतत्त्व की हत्या उन चीजों के लिए कर रहे हैं। यह विचार नहीं आता कि जो कार्य मैं कर रहा हूँ उसके द्वारा मेरे आत्म-स्वभाव का घात हो रहा है। जो चीज कायम नहीं रहने वाली है उसके लिए उसका घात कर रहा हूँ जो शाश्वत है।

मिट्टी पर मिट्टी क्यों डालें !

एक आदमी और उसकी पत्नी जंगल में रहते थे। लकड़ी काटते थे और उनको बेचकर जो मिलता उससे अपना काम चलाते थे। एक बार सात दिन तक लगातार वर्षा होती रही। सात दिन तक उपवास करना पड़ा। भीख न मांगने का उनका नियम था। सात दिन बाद जंगल में गये तो संयोगवश एक महात्मा मिल गए। वे बोले कि कोई नियम ले लो। दम्पति ने नियम लिया कि किसी की भी कोई गिरी-पड़ी चीज नहीं लेंगे। दोनों लकड़ी काटने आगे चले गये। आगे-आगे पुरुष जा रहा था, पीछे-पीछे स्त्री आ रही थी। संयोग से उसी रोज उस पुरुष को अशर्फियों से भरी एक थैली पड़ी दिखाई दी। उसने सोचा कि सात दिन से खाना नहीं मिला है, आज ही नियम लेकर आये हैं, कहीं स्त्री का मन न चल पड़े ! अतः उसने उस थैली पर मिट्टी डाल दी। इतने में स्त्री आ गयी। उसने पूछा क्या कर रहे हो ? पुरुष ने कहा कि यह थैली पड़ी थी, मैं इस पर मिट्टी डाल रहा था कि कहीं तुम्हारा मन मचल न जाए, आज ही तो हम महात्मा जी के समक्ष नियम लेकर आये

वे हैं। उस स्त्री ने कहा—लगता है तुमसे नियम नहीं पलेगा। मैं तो नियम लेने के बाद दूसरे के धन को मिट्टी ही देखती हूँ। इस मिट्टी पर मिट्टी क्यों डाल रहे हो ? तुम्हें अभी धन दिखाई देता है इसलिए व्रत का पालन तुमसे न हो सकेगा।

यदि हमें धन में सुख दिखाई दे रहा है तो धन का त्याग नहीं हो सकता। अगर धन में नरक दिखाई दे रहा है तो भी त्याग सही नहीं है।

एक आदमी धन के पीछे लग रहा है और दूसरा आदमी धन से भाग रहा है। पहले आदमी के लिए धन स्वर्ग है, दूसरे के लिए नरक। दोनों की ही धारणाएँ विपरीत हैं। दोनों ही भाग रहे हैं। ठहरा हुआ तो वह है जो ज्ञान का मालिक है। धन न तो स्वर्ग है, न नरक; हमारे दृष्टिकोण ने उसे नरक और स्वर्ग बनाया है। अगर स्त्री सुन्दर दिखाई दे रही है तो समझना चाहिए कि स्त्री का त्याग अभी नहीं हुआ। कांच कंचन में यदि अन्तर दिखाई दे रहा है तो अभी दृष्टि दोष नहीं गया। गलती वस्तु की नहीं है—गलती हमारी है, हमारी दृष्टि में दोष है। जैसी वस्तु है वैसी दिखाई दे, उसमें अपनापना न जाये, यही सही उपाय है।

साक्षी भाव ही दवा है !

एक राजकुमार था। वह एक साधु के सान्निध्य में दीक्षित हो गया और कठिन तपस्या करने लगा। एक रोज उस साधु ने उसे एक श्राविका के घर भिक्षा लेने को भेजा। जब वह जा रहा था, उस समय उसकी पुरानी स्मृतियाँ उसकी आँखों के सामने घूमने लगी—कल तक राजकुमार था, आज उसी मार्ग पर भिक्षा का पात्र लिए हुए जा रहा हूँ, कल तक माँ थी, अबकी थी, प्रिय भोजन उपलब्ध था, आज कोई नहीं है; न जाने आज कैसा भोजन मिलेगा !

वह श्राविका के घर पहुँचा। उसने देखा, जो-जो भोजन उसे रुचिकर था, वह सब ही तैयार है। वह चुपचाप भोजन करने लगा। उसे स्मरण आया कि पहले तो वह भोजन के बाद आराम किया करता था, अब तो दो

कोस जाना पड़ेगा। उसके भोजन कर चुकने पर श्राविका कहने लगी कि—कुछ समय के लिए विश्राम करके चले जाना। उसको आश्चर्य हुआ कि श्राविका ने मेरे मनोभावों को कैसे जान लिया ? भिक्षु ने श्राविका से पूछा तो उसने बताया कि पहले मैं अपने भावों के प्रति निरन्तर जागरूक रही, जिससे जागरूकता इतनी बढ़ गयी कि अब मैं दूसरों के भावों को भी पढ़ लेती हूँ। यह सुनकर वह बहुत घबराया और सीधा गुरु के पास पहुँचा। उसने उन्हें सब वृत्तान्त कह सुनाया और बोला कि कल मैं वहाँ नहीं जाऊँगा क्योंकि उसको देखकर मेरे मन में वासना पैदा हुई थी। उसने वह भी जान ली होगी। परन्तु गुरु ने कहा—“नहीं, तुम्हें वहीं जाना होगा।” दूसरे दिन वह गुरु की आज्ञा के अनुसार उसी श्राविका के घर गया। परन्तु आज वह पूर्णरूप से सावधान व जागरूक था, अपने भावों के प्रति। अपने चलने में, उठने में, हर कार्य के प्रति वह जागरूक था। उसने पाया कि अगर मैं जागरूक रहता हूँ तो कोई भाव पैदा नहीं होते। वापस आने पर वह गुरु के आगे नतमस्तक हो गया, बोला कि आज मुझे चाबी मिल गयी है। अगर जीव अपने आप में पूर्ण रूप से जागरूक रहे तो मन में विकारी भाव पैदा नहीं होते।

लोग कहते हैं कि मन वश में नहीं होता। वास्तव में मन को वश में करने का नकारात्मक प्रयास न करते हुए जागरूकता को पैदा करने का विधेयात्मक पुरुषार्थ करता है तो मन कहीं जाएगा ही नहीं। जागरूकता इस प्रकार की होनी चाहिए कि आँखों की पलकें भी हमारी जानकारी में झपकें। कोई विचार, कोई क्रिया बेहोशी में न हो। हर क्रिया और विचार हमारी जानकारी में हो, हम उनके कर्ता न रहें; मात्र साक्षीभूत रहें। ज्ञाता रहें यही वह उपाय है जो हमें निरर्थक विचारों से बचा सकता है, मन की एकाग्रता का भी यही उपाय है। व्यक्ति जितना ज्यादा जागरूकता को बढ़ाता जायेगा, उतनी ही उदासीनता और विरक्ति बढ़ती जाएगी, उतनी ही उपयोग की स्थिरता बढ़ जाएगी, ध्यान की सिद्धि होगी। जब निरन्तर जागरूक रहते हैं तब निठल्लापन नहीं रहता। बाहर में कुछ नहीं कर रहे हैं परन्तु जागरूक बने हुए हैं। जब जागरूकता की पूर्णता हो जाती है तब साधक

साक्षी मात्र रह जाता है, यही मोक्षमार्ग है। ऐसा साक्षी भाव होने से भविष्य की इच्छायें नहीं होती और भूतकाल की याद नहीं रहती। अतः स्वतः शान्त हो जाता है।

जहाँ परिग्रह है वहाँ डर ही डर है !

वे साधु जंगल में जा रहे थे। एक गुरु, दूसरा उसका चेला। रात्रि का समय था। आगे-आगे गुरु जा रहा था, पीछे-पीछे शिष्य। गुरु के पास कंधे पर एक थैला था। गुरुजी कहते जा रहे थे—“चेला ! रात अंधेरी है, रास्ता भयानक है, बड़ा भय है, गाँव जल्दी पहुँचना है।” चेला सोच रहा था कि हम ठहरे साधु और साधु के पास कुछ नहीं होता फिर उनको भय किस बात का हो सकता है ? पता नहीं आज गुरुजी को किस बात का भय हो गया है ! थोड़ी दूर आगे चलकर एक कुँआ आया। गुरुजी ने थैला चेले को दे दिया और स्वयं हाथ-मुँह धोने लगे। चेले ने थैला खोल के देखा कि उसमें एक सोने की ईंट थी। चेले को भय का कारण मालूम हो गया। उसने उस सोने की ईंट को कुँए में फेंक कर एक साधारण ईंट रख दी। गुरुजी हाथ-मुँह धो कर, थैला लेकर आगे चले, कुछ देरी बाद फिर बोले—“चेले ! रास्ता बड़ा भयानक है, बड़ा भय है।” चेले ने कहा, “अब कोई भय नहीं, भय को पीछे कुँए में फेंक दिया है।” गुरुजी ने जल्दी से थैला खोला तो वहाँ पत्थर की ईंट है। उन्होंने उसे फेंक दिया और हँसकर बोले, “चेले ! जब गाँव पहुँचने की जरूरत नहीं है, यहीं आराम कर लेते हैं। अब कोई भय नहीं है।” सबरे उठने पर चेले ने कहा, “गुरुजी ! आप बड़े त्यागी हैं, अपने ईंट को एक कुँए में फेंक दिया।” गुरुजी ने कहा, “जब पत्थर ही दिखाई दे गयी तो उसका त्याग करना नहीं पड़ता। वह अपने आप छूट जाती है।

हम लोग त्याग की महिमा गाते हैं, क्योंकि अभी हमें ईंट सोने की दिखाई दे रही है जब तक हमें त्यागे हुए पदार्थ की महत्ता नज़र आ रही है तब तक उस किए गए त्याग का अहंकार भी नहीं मिट सकता। असली त्याग तो तब है जब संसार के सारे पदार्थ, दान-धन-वैभव निरर्थक दिखाई

देने लगें तब छोड़ा नहीं जाता, छूट जाता है। निःसार पदार्थ का बोझ कौन ढोयेगा, याद भी नहीं रहता कि कहाँ छूट गया। यह तभी सम्भव है कि जब हमें सार वस्तु का ज्ञान हो। अभी तो हमने संसार के वैभव को सार समझ कर, जो वस्तुतः सार है हमारा आत्म-तत्त्व, उसे असार समझकर भुल रखा है। जब उसमें सार दिखाई दे तो समस्त बाह्य वैभव स्वयं ही छूट जाता है। यदि इस प्रकार आत्मतत्त्व के ग्रहणपूर्वक पर-पदार्थों के निःसार बोझ का त्याग होता है, तब न तो इस बात के विज्ञापन की जरूरत होती है कि पहले इकट्ठा किया हुआ कितना कूड़ा हमने फेंका और न ही उस त्याग की याद रखी जाती है।

प्रेम में बोझा नहीं

एक साधु पहाड़ पर चढ़ रहा था। दोपहर का समय था, तेज सूरज चमक रहा था। साधु के कंधे पर बोझा था—किताबें, कपड़े-लत्ते और बिस्तर। वह पसीने से लथपथ हो रहा था। चढ़ाई अभी ज्यादा थी। उसी समय साधु ने देखा, एक पंद्रह वर्ष की लड़की अपने कंधे पर एक बच्चे को लिए पहाड़ पर चढ़ रही है। वह भी पसीने से लथपथ है। साधु को दया आ गयी। उसने लड़की से पूछा—“बेटी ! बहुत बोझा मालूम पड़ रहा होगा ?” लड़की ने नीचे से ऊपर तक साधु को देखा और कहा—“बाबाजी ! बोझा तो आपके पास है। मेरे पास तो मेरा भाई है। भाई बोझा नहीं होता।”

जहाँ प्रेम है वहाँ कष्ट नहीं होता। लोग तपस्या को कष्ट समझते हैं। परन्तु वह कष्ट नहीं, वह तो आनन्द का कृत्य है। जिन्होंने तपस्या को समझा है, उसे अपनाया है, वह कष्ट नहीं सह रहे हैं, बल्कि तपस्या उनके जीवन का संगीत है, उनका आनन्द है। अज्ञानी के लिए शरीर का कष्ट ही दुःख है। ज्ञानी अपने आत्मिक आनन्द में लगा रहता है। उसके लिये शारीरिक कष्ट दुःख-रूप नहीं है।

यह तो तू ही है ! कहीं खोया नहीं है !

एक गुरु के पास एक शिष्य शिक्षा प्राप्त करने गया और उसके आश्रम में रहने लगा। तीन महीने बाद गुरु ने शिष्य से पूछा—“कुछ मिला ?” शिष्य ने अस्वीकृति में सिर हिला दिया। गुरु ने एक थप्पड़ मारा और कहा—“अभी और साधना करो।”

तीन महीने बाद फिर वही बात हुई, शिष्य ने बताया कि नहीं मिला। इस प्रकार चार बार हो चुका, बारह महीने बीत गये। गुरु फिर शिष्य से मिला और पूछा—“मिला ?” शिष्य ने एक थप्पड़ गुरु के मारा और कहा—“वह तो मिला ही हुआ था, गया कहाँ था।” गुरु नाचने लगा।

वस्तुतः आत्म स्वभाव तो मिला ही हुआ है; वह तो कभी मिटता नहीं। आत्मा अनन्त काल से चेतन है और अनन्त काल तक चेतन रहेगा। वह तो वैसा ही है मात्र उसको देखना है, श्रद्धा प्रतीति करनी है। वह अपने आप में ही मौजूद है। परन्तु हम अपने आप को अपने में नहीं देखकर बाहर खोज रहे हैं, जहाँ वह नहीं है। इसलिए आज तक नहीं मिला और यदि आन्तरिक में खोजते रहें तो मिलेगा भी नहीं; क्योंकि जहाँ उसे खोजा जा रहा है वहाँ वह है ही नहीं।

भगवान भीतर है

एक बार भगवान ने सोचा कि मैं ऐसी कौन-सी जगह जाऊँ, जहाँ मुझे यह मानव हैरान न करे; यह मानव मुझे मंदिर में, जंगल में, पहाड़ पर, हिमालय की चोटियों पर, कन्दराओं में सब जगह खोज लेता है और रात-दिन का भेद किये बिना ही हे भगवान ! हे भगवान ! चिल्लाता रहता है। यहाँ तक कि चन्द्रमा तक भी पहुँच गया।

इसके लिए भगवान ने कई समझदार लोगों से सलाह ली। अंत में एक समझदार व्यक्ति ने कहा कि यह मानव आपको सब जगह खोज लेगा

परन्तु आप यदि इसी के भीतर छिप जाएं तो वह आपको अपने भीतर न खोजेगा, इसलिए आपको नहीं पा सकेगा। यह बात भगवान को जँच गई और उस दिन से वह मानव के भीतर छिप गया। जहाँ उसे कोई न खोजता।

यह कहानी सही हो या न हो, परन्तु यह बात सही है कि इस मानव भगवान को खोजने में आकाश-पाताल सभी एक कर दिया। मंदिरों, तीर्थों, जंगल, पहाड़ सभी जगह भटका, परन्तु वहाँ नहीं खोजा जहाँ विराजमान हैं। यही कारण है कि इतना काल होने पर भी, हजारों वर्षों तपस्या करने पर भी वह भगवान को नहीं खोज पाया। यदि अपने अंतरंग में झाँकता तो पाता कि अपना चैतन्य प्रभु अपने में ही विराजमान है।

अपने परमात्मा को पहचान !

एक शेर का बच्चा बचपन से ही भेड़ियों के बीच पला और अपने आप को भेड़िया ही मानने लगा। भेड़ियों को अपनी माँ, बाप, भाई, बहन समझता और उनकी भाँति ही समस्त क्रियाएँ करता; भेड़ियों की भाँति ही भागता-दौड़ता, उन्हीं की भाँति खाता-पीता, यहाँ तक कि उसकी आवाज भी भेड़ियों की भाँति ही होती। एक बार निकट के पहाड़ पर एक शेर दहाड़ा उसकी दहाड़ सुनकर सब भेड़िये भागे। वह शेर का बच्चा भी भागा। शेर ने देखा यह शेर का बच्चा होकर भी क्यों भाग रहा है ! उसने उस बच्चे को रुकने को कहा, परन्तु वह न रुका, भागता ही गया। शेर ने छलाँग लगाई और उस बच्चे को पकड़ लिया। बच्चा रोने लगा। उसने शेर के पैर पकड़ लिये, विनती करने लगा, “आप जंगल के राजा हैं, मैं दीन-अनाथ हूँ, मेरी रक्षा करें।” शेर समझ गया कि यह अपने को भेड़िया समझ रहा है। उसने समझाया, तू शेर का बच्चा है, मेरी जाति का है, मेरे जैसा है। अपनी जाति भूलकर इन भेड़ियों में क्यों रहता है ? मेरे साथ चल। परन्तु वह नहीं माना और रोकर कहने लगा कि मैं आप जैसा नहीं, दीन-अनाथ हूँ, आप महान हैं। शेर ने एक युक्ति सोची। वह उसको पकड़ कर तालाब के किनारे

गया और कहा कि इस पानी में मेरा चेहरा देख, फिर अपना चेहरा देख दोनों का मिलान कर। जब शेर के बच्चे ने ऐसा किया तो उसके मुँह से आश्चर्य ही शेर की स्वाभाविक दहाड़ निकल पड़ी।

अब वह शेर था, उसका भेड़ियापना खत्म हो गया था।

यह कहानी मात्र कहानी नहीं है। इसके माध्यम से सार तत्त्व को बताया गया है। यह जीव चैतन्य है परन्तु अपने आपको शरीर रूप मानता है। अब उसको बताना है कि तू शरीर नहीं है अपितु चैतन्य है। भगवान् आत्मा है। तू भिखारी नहीं है, अपितु जिससे मांग रहा है उस रूप ही है। वह भगवान् का दर्शन भी करता है, पूजा करता है, स्तुति करता है, नाम का जाप भी करता है, परन्तु मैं भी भगवान् हूँ—ये बात नहीं समझता। अगर इसे उपदेश भी दिया जाता है तो ये मानने को तैयार नहीं कि मैं भी ऐसा हूँ अपना ऐसा बनने की शक्ति रखता हूँ। यही कारण है कि पूजा-दर्शन-जाप करते हुए भी आज तक आत्मदर्शन नहीं हुआ। जो इस काम में तो लगे हुए हैं, परन्तु आत्मदर्शन का पुरुषार्थ नहीं करते वे मात्र भगवान् की भक्ति करके कुछ पुण्य तो बाँध लेंगे परन्तु आत्म-दर्शन—सम्यक्-दर्शन से अछूते ही रहेंगे। सम्यक्-दर्शन के लिये मात्र भक्ति से, जाप से काम नहीं चलेगा, शेर के बच्चे की तरह पहले शेर का स्वरूप जानना-समझना होगा, फिर अपने स्वरूप का इससे मिलान करना होगा तब आत्मदर्शन होगा।

एक पका हुआ आम है, दूसरा कच्चा आम है। क्या पके आम की पूजा करने मात्र से कच्चा आम पक जाएगा ? हमें यह समझना पड़ेगा कि दोनों आम एक ही जाति के हैं, दोनों में समान गुण हैं और पका आम भी पहले कच्चा था, कच्चे से ही पका हुआ है। उसी प्रकार मुझमें भी परमात्मा बनने की शक्ति है। मैं परमात्मा होकर रहूँगा। व्यक्ति पहले अरहंत के स्वरूप को रूप, गुण, पर्याय से जाने तब यह समझे कि उनमें व मुझमें मात्र इतना ही अंतर है कि वे शुद्ध रूप परिणमन कर रहे हैं; मैं अशुद्ध रूप। परन्तु वे भी अशुद्ध परिणमन को मिटा कर शुद्ध हुए हैं। मैं भी वैसा पुरुषार्थ करके अपना अशुद्ध परिणमन को मिटाकर शुद्ध हो सकता हूँ। मेरी आत्मा उन जैसी ही है, उसके मात्र परिणमन का है। तभी सम्यक्-दर्शन हो सकता है, परमात्मपना

जागृत हो सकता है।

जो स्थिति शेर के बच्चे की है। शेर होते हुए भी अपने को भेड़ मानकर भेड़िया बना हुआ है अब वह शेर कैसे हो इसका जो उपाय है वह उपाय हमारे लिये भी है। उसी उपाय से सम्यक्-दर्शन प्राप्त हो सकता है।

अपने को गिनना भूल गये !

एक बार कुछ देहाती लोगों ने एक नदी पार की। नदी पार करके उन्होंने सोचा कि कहीं कोई नदी में छूट न गया हो, अतः अपने को गिन ले चाहिए। उन्होंने अपने को गिना। गिनती करने पर उनके दुःख का पार न रहा, क्योंकि वे दस आदमी आये थे, परन्तु अब नौ ही रह गये थे। बाकी बारी से सबने गिना, परन्तु सबने यही गलती की कि अपने आपको किसी नहीं गिना। वे अपने खोए हुए साथी के लिये रोने लगे। उनकी कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करें ! तभी एक समझदार व्यक्ति उधर गुजरा। उसने उनके रोने की वजह पूछी। वे ग्रामीण लोग बोले—“हम एक साथी नदी पार करते समय डूब गया है, हम लोग दस थे लेकिन अब नौ रह गए हैं।” उस व्यक्ति ने उन्हें गिना—वह नौ नहीं थे, दस ही थे। उसने उनमें से एक देहाती से कहा कि इस बार फिर गिनो, साथ ही आपको भी गिनो, खुद को गिनना मत भूलो। उन ग्रामीणों का दुःख तभी मिट सका जब उन्होंने स्वयं को गिना।

क्या यही गलती हम भी नहीं कर रहे हैं ! हम अपने को गिनना भूल जाते हैं—वे साथी के खोने से कितने दुःखी थे—हम अपने ही खो जाने से दुःखी हैं। सबको गिन लिया, पर अपने को गिनना भूल गये। यही अज्ञान है। जिसने स्वयं को गिना, उसी का गिनना सही है। जिसने स्वयं को गिन लिया, उसी का जानना सही है।

नाव खूँटे से बंधी है

एक रोज संध्या के समय जब रात्रि होने वाली थी, पूर्ण चाँद उगने वाला था, चार दोस्तों ने डटकर भांग पी ली और रात्रि में नाव से नदी में घूमने निकले। भांग का नशा चढ़ गया था। रात्रि भर नाव खेते रहे। जब सबेरा होने को आया तब नशा कम हुआ। एक ने पूछा कि नीचे उतरकर देखें तो सही हम लोग कहाँ तक आ गये हैं। रात भर नाव चलाते रहे हैं। वह नीचे उतरा, देखा और हँसने लगा। दूसरे ने पूछा क्यों हँसता है, बताता क्यों नहीं, कहाँ आ गये हैं ? उसने कहा कि अगर तुम भी उतर कर आवोगे तो वैसे बिना नहीं रहोगे। वह भी नीचे उतरा और देखता है कि नाव खूँटे से बंधी पड़ी है। रात भर खेने के बाद भी वहीं की वहीं खड़ी है।

अब सोचिए—क्या यह हमारी बात नहीं है ? अगर आत्म-दर्शन नहीं किया, शरीर से भिन्न अपने चैतन्य स्वभाव को अपने रूप अनुभव नहीं किया तो फिर चाहे कितने ही व्रत, उपवास आदि करते रहें, मुनिपना भी प्राप्त करें और समझते रहें कि हमने जीवन भर धर्म का सेवन किया है, परन्तु जब तत्त्व दृष्टि से देखेंगे तब पायेंगे कि इनसे हमें पापबंध की जगह पापबंध तो कदाचित् हुआ, कषायें तो दबीं परन्तु नष्ट नहीं हुई। हम उसी को मोक्षमार्ग मानकर संतुष्ट हो गये हैं। इतना ही हुआ कि लोहे की बेड़ी की जगह सोने की बेड़ी से बंध गये, परन्तु बंधन का नाश नहीं हुआ। हम संसार रूपी खूँटे से बंधे पड़े हैं। वहीं के वहीं खड़े हैं। हमने मात्र परहेज ही किया है दवाई नहीं खाई है। दवाई तो भेद विज्ञान है। व्रतादि तो परहेज के समान है। परहेज दवाई के साथ ही होता है। हमने भेद विज्ञान रूपी दवाई का सेवन नहीं किया है परन्तु मात्र परहेज ही करते रहे और उसी को दवाई मान लिया है। इसलिये हमारा राग-द्वेष नहीं मिट सका। नाव वहीं की वहीं खड़ी है।

शांतचित्त है द्वार प्रभु का !

एक गुरु ने अपने कुछ शिष्यों को अध्ययन के लिए बड़े गुरुकुल में भेजा कई वर्षों के बाद एक को छोड़कर और सभी शिक्षा प्राप्त करके आ गये थे कुछ दिनों बाद वह अंतिम शिष्य भी आ गया। गुरु ने उससे पूछा—“तुम सबके बाद आये हो, तुम तो सबसे ज्यादा सीख कर आये होगे ?” शिष्य ने कहा—“मैं सीखकर नहीं आया, परन्तु जो आपने सिखाया था वह मिटाकर आया हूँ।”

फिर, एक दिन वही शिष्य गुरु के मालिश कर रहा था। मालिश करते हुए स्वतः ही बोला, कि मंदिर तो सुंदर है पर भीतर भगवान की मूर्ति नहीं है ! ऐसा सुनते ही गुरु के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। गुरु का क्रोध देखकर वह शिष्य हँसने लगा।

फिर एक रोज़ गुरु बैठे थे। वह पास आकर बैठ गया। उसने देखा एक मधुमक्खी भीतर आ गयी है और बाहर जाने का मार्ग खोज रही है और बार-बार दीवार से टकरा जाती है। वह शिष्य जोर से बोला, “अरे मक्खी ! तू तो अंधी है; द्वार तो खुला है, तू बंद खिड़की से निकलने की चेष्टा क्यों कर रही है ? जहाँ से तेरा आना हुआ वहीं द्वार है !” मधुमक्खी ने तो शायद नहीं सुना, परन्तु गुरु को द्वार जरूर मिल गया। उन्होंने कहा “वाकई मैं मेरा मंदिर भगवान से खाली है। अब मेरी समझ में आया कि मैं दीवार से टक्कर मार रहा हूँ। दरवाजा मुझे दिखा ही नहीं। अब मैं क्या करूँ ?” उसी समय उसने देखा कि मक्खी चुपचाप दीवार पर बैठी है और मात्र बस बैठी ही है और देखा कि द्वार से मक्खी बाहर जा रही है।

अब अपनी बात है। भगवान को पाने के लिए, मोक्ष प्राप्त करने के लिए हमें कुछ नहीं करना है। केवल शांत होकर मात्र देखना है। राग-द्वेष छोड़कर मात्र देखते रहें तो हम पायेंगे कि द्वार मिल गया।

अपने में होना साधुता !

एक गुरु और एक शिष्य दोनों रात्रि में एक जंगल में से जा रहे थे। राह में अंधी, वर्षा आ गई। दोनों भीग गये और मिट्टी से लथपथ हो गये। भूख और थकान से वे अधमरे हो रहे थे। अभी गाँव तक पहुँचने के लिये काफी चलना था। तभी गुरु ने कहा, “वास्तविक साधु वह नहीं है जो अंधों को आँखें दे दे, बीमारों को स्वस्थ कर दे और मरे हुएों को जिला देवे।” उसने फिर कहा—“वह भी वास्तविक साधु नहीं है जो पशुओं और पत्थरों की भाषा समझता हो, जिसको सारे जगत का ज्ञान उपलब्ध हो गया है !” कुछ देर बाद फिर उसने कहा—“वह भी वास्तविक साधु नहीं है जिसने अपना सर्वस्व त्याग दिया हो।”

तब शिष्य से चुप नहीं रहा गया और उसने पूछा—“फिर वास्तविक साधु कौन है ?”

गुरु ने कहा—“अभी हम लोग गाँव की सराय के दरवाजे पर पहुँचेंगे और दरवाजा खटखटायेंगे। द्वारपाल रात की ठंडी में नींद से उठकर आयेगा और बोलेगा—‘भिखारियों ! भिखमंगों ! यहाँ से भाग जाओ, यहाँ पर कोई जगह नहीं है !’ और द्वार बंद कर लेगा। हम दोनों भूखे, थके और मिट्टी से लथपथ, ठंड में ठिठुरते हुए फिर द्वार खटखटायेंगे और वह द्वारपाल बाहर आकर हमें धक्का देगा, लकड़ी से हम पर चोट करेगा। और यदि तब भी हमारे भीतर कुछ नहीं होगा, शांत बने रहेंगे और उस द्वारपाल में भी हमें वही वैतन्य वृष्टिगोचर होगा जो हमारे में है तो यही वास्तविक साधुता है।”

वास्तव में सब परिस्थितियों में शांति, सरलता और समता को उपलब्ध कर लेना ही साधुता है।

निर्मलता की जड़ साक्षी भाव !

गौतम बुद्ध जब वृद्ध हो गये थे, तब वे एक दिन दोपहर में एक वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे थे। उनका शिष्य आनन्द उनके लिये पास के झरने से पानी लेने गया था। झरने में से अभी-अभी कुछ गाड़ियाँ निकलीं थी अतः झरने का पानी गंदा हो रहा था। अतः आनन्द वापिस आ गया और गौतम बुद्ध बोला—“झरने का पानी तो गंदा है, मैं नदी से पानी लाता हूँ।” गौतम बुद्ध ने उसे वापिस उसी झरने का पानी लाने को भेजा। आनन्द ने फिर खाँट हाथ आकर कहा—“वह पानी लाने लायक नहीं है।” गौतम बुद्ध ने उस तीसरी बार फिर वहीं भेजा। अबकी बार आनन्द चकित रह गया; पानी बिल्कुल निर्मल था, कीचड़ व मैल नीचे बैठ गया था। आनन्द पानी लेकर आ गया। गौतम बुद्ध ने पूछा—“अबके पानी साफ कैसे मिल गया ?” आनन्द ने कहा—“धीरे-धीरे कीचड़ नीचे बैठ गई और पानी साफ हो गया।”

अब अपनी बात है। जब विकल्पों के द्वारा मन मलिनता को प्राप्त होता जाता है तब उसका उपाय है कि उन विकल्पों को देखते जायें, देखते जायें। अगर हम लगातार देखते हैं तो हम पायेंगे कि विकल्पों का मैल नीचे बैठ गया है और मन निर्मल हो गया है। केवल साक्षी होना है और मन निर्मल होता जाता है। निर्मल करना नहीं है मात्र धीरज से देखना है।

सम्यक् देखना !

एक जंगल में से दो मुनि जा रहे थे। शरीर की दृष्टि से वे पिता-पुत्र थे। पुत्र आगे-आगे चल रहा था, पिता पीछे था। जंगल एकदम भयानक था। दोनों तत्त्वचर्चा करते जा रहे थे कि शरीर अलग है और चैतन्य आत्मा अलग है, शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। इतने ही में अचानक सिंह का

जान हुआ। पिता ने पुत्र से कहा, “तुम पीछे आ जाओ, यहाँ खतरा है।”
 किन्तु पुत्र नहीं आया। पिता ने दोबारा कहा, किन्तु पुत्र नहीं ही आया। सिंह
 सामने आ चुका था। मृत्यु सामने खड़ी थी। पुत्र बोला, “मैं शरीर नहीं हूँ,
 मैं चेतन्य हूँ, मेरा नाश हो ही नहीं सकता, मेरी मृत्यु कैसी ?” पिता तो
 भाग गया परन्तु पुत्र आगे बढ़ता गया; सिंह ने उस पर हमला कर दिया।
 सिंह गिर पड़ा था, पर उसे दिखाई पड़ रहा था कि जो गिरा है वह मैं नहीं
 हूँ। वह शरीर नहीं था इसलिये उसकी मृत्यु भी नहीं थी। पिता मात्र कहता
 था कि शरीर हमारा नहीं है, परन्तु दिखाई उसको यह दे रहा था कि शरीर
 हमारा है।

अब अपनी बात है। कहने और दिखने में मौलिक अंतर है। सही
 दिखने से जीवन परिवर्तित होता है, कहने से नहीं। इसलिये सम्यक्-
 जीवन/सही देखने को मोक्षमार्ग बताया है।

देना उसके आधीन, लेना हमारे आधीन !

एक साधु एक गाँव से गुजर रहे थे। कुछ लोगों ने भीड़ लगा ली और उन्हें
 गालियाँ दीं। साधु ने कहा, “भाइयों ! तुम्हारा काम पूरा हो गया हो तो
 मैं जाग जाऊँ !” उन लोगों ने कहा कि हम लोग गालियाँ दे रहे हैं क्या
 जागकी समझ में नहीं आती ?

साधु ने कहा, “तुम गालियाँ दे रहे हो, वह मैं समझ गया। लेकिन
 मैं गालियाँ लेना बन्द कर दिया है। तुम्हारे देने से क्या होगा, जब तक मैं
 जाग ही नहीं ? अब मैं जाग गया हूँ, इसलिये जागकर कोई गलत चीज़
 कैसे ले सकता है ? जब आदमी बेहोशी में चलता है, तब पैर में काँटा गड़
 जाता है, अगर देखकर चले तो काँटा कैसे गड़ सकता है ? पिछले गाँव में
 कुछ लोग मिठाइयाँ लेकर आये थे, मैंने कहा कि मेरा पेट भरा है, वे लोग
 अपनी मिठाई अपने घर ले गये और आपस में बाँट कर खा ली। तुम लोग
 गालियाँ लेकर आये हो और मैं ले नहीं रहा हूँ; अब तुम उन गालियों का
 क्या करोगे, किसको बाँटोगे ? मैं ले नहीं सकता अतः वे आपके पास ही

रह जायेगी।”

अब हमारी बात है। दूसरा कुछ भी देने आवे परन्तु यदि हम नहीं देते हैं तो वह चीज़ उसी के पास रह जाती है। देना उसके आधीन है, पर लेना हमारे आधीन है। जब हम लेते हैं तब यह कह दिया जाता है कि उसने दे दी। गलती लेने वाले की है, चाहे गालियां हो, सुख हो, दुःख हो, मान हो अपमान हो।

आखिरी बाधा

ऐसा कहा जाता है कि रामकृष्ण परमहंस देवी के बड़े भक्त थे। देवी का आहार लगाये बिना भोजन नहीं करते थे। हमेशा देवी की भक्ति में ही तन्मय रहते थे। परन्तु वेदान्त का ज्ञान नहीं था। एक बार वेदान्त के ज्ञाता पंडित तोताराम उनके पास आये। उन्होंने उनसे वेदान्त पढ़ना चालू किया। जब भी आत्मध्यान की बात आती परमहंस देवी की भक्ति में लीन हो जाते। जब भी आँख मिचकर आत्मध्यान की चेष्टा करते देवी सामने आ जातीं और रोने लग जाते।

कई दिन हो जाने पर भी जब यही स्थिति चलती रही तो पंडित तोताराम ने कहा कि अगर तू इसी तरह आँख मिचकर रोता रहेगा तो या तो काम नहीं होगा। पंडित तोताराम ने कहा कि अगर आज तू ब्रह्मध्यान में एकाग्र नहीं हुआ तो मैं वापिस चला जाऊँगा। जिस विकल्प के द्वारा तू देवी को उपस्थित कर लेता है, उसी तरह एक विकल्प ऐसा बनाए और उस देवी के उस विकल्प के द्वारा खण्ड-खण्ड कर दे तभी बात बनेगी। जब देवी आपके ध्यान में आवेगी आप रोने लगेंगे। मैं इस काँच से आपके माथे पर धाव करूँगा और आप विकल्परूपी तलवार से उस देवी के दो टुकड़े कर देंगे। यह बात रामकृष्ण परमहंस के लिये बहुत मुश्किल थी। जिस देवी को वे अपनी मां समझते थे उसी के टुकड़े करने थे। परन्तु पंडित तोताराम जाने को तैयार थे। वैसा ही हुआ। परमहंस ध्यान में बैठे, देवी की कल्पना बनी

और पंडित नानाराम ने कांच से उनका माथा रगड़ा। उन्होंने कल्पना में ही
ले जाकर लेकर देवी के खण्ड-खण्ड कर दिया और खण्ड-खण्ड करते ही
उनका मन वहां से हटकर ब्रह्म में लीन हो गया।

अब अपनी बात है। क्या ऐसी ही बाधा हमारे सामने तो नहीं है? वे
हमारी उपासक थे, हम अन्य के उपासक हैं। हमने भी अपने उपास्य की
उपमा पकड़ रखी है, छोड़ने को तैयार नहीं हैं। और जब तक यह जाड़ूला
पकड़ रखा है तब तक निरालम्बन चलने की योग्यता नहीं आ सकती। यह
अलम्बन छोड़ेंगे तभी स्वालम्बन प्राप्त कर सकेंगे। यही आखिरी बाधा है
जिसको यह छोड़े तो निज स्वरूप का अवलम्बन ले सके।

वाद-विवादों में अनुभव नहीं

एक समुद्र के किनारे कुछ पंडित लोग बैठे थे और उस समुद्र की गहराई के
बारे में चर्चा कर रहे थे। कोई कितनी बता रहा था, कोई कितनी बता रहा
था। साथ में तर्क और हेतु भी दे रहे थे। समाधान नहीं हो पा रहा था। इतने
में ही नमक के पुतले आये और उन्होंने कहा कि किनारे बैठकर चर्चा करने
से गहराई का पता नहीं चल सकता। अगर गहराई का पता लगाना है तो
हमारे साथ आओ। ऐसा कहकर वे पानी में कूद पड़े और क्योंकि नमक के
पुतले पानी के साथ घुलकर एकमेक हो गये।

अब हमारी अपनी बात है। हम लोग शास्त्र पढ़ते हैं और चर्चा करते
हैं। चर्चा करने को ही हम अपनी विद्वता समझते हैं। कोई एक विरला
व्यक्ति होता है जो वस्तु तत्त्व का स्वाद लेता है। चर्चा करने से स्वाद
ही आता। स्वाद तो उसी को आता है जो वस्तु के साथ एकमेक हो जाता है
और वस्तु स्वरूप का अनुभव करता है। चर्चा करने वाले लाखों हैं। स्वरूप
अनुभव करने वाले कोई एक आध है। आम के गुणगान करने से आम
का स्वाद नहीं आता। परन्तु आम के खाने वाले को आम का स्वाद आता है।
यही व्यक्ति जानकार हो सकता है परन्तु अनुभव से उसका जीवन
चलता हो जाता है।

अपने घर में आग लगा ली

एक स्त्री ने एक नया कंगन बनवाया और उसे पहनकर वह अड़ोस-पड़ोस में सब जगह घूम आई। परन्तु किसी ने यह नहीं पूछा कि यह नया कंगन कब बनवाया, बड़ा अच्छा है। अतः उसने शाम को अपने घर में आग लगा ली और कंगन वाले हाथ को ऊँचा करके चिल्लाने लगी कि आग लग गई। आग लग गयी। आदमी इकट्ठे होने लगे। एक स्त्री ने उससे पूछा—“यह नया कंगन आज ही बनवाकर पहना है क्या ? बड़ा अच्छा है।” उस स्त्री ने कहा—“पहले पूछ लेती तो घर में आग नहीं लगानी पड़ती।”

अब हमारी बात है। क्या यह हालत हमारी नहीं है ? हम लोग अपने अहम् को पुष्ट करने को क्या-क्या नहीं करते। हमारा खाना-पीना, कपड़े पहिनना आदि सभी पर को दिखाने के लिये हैं। लोग बाहर जाते हैं, मेकअप करते हैं, कपड़ा बदलते हैं, मात्र दिखाने के लिये। फिर यह अपेक्षा करते हैं कि दूसरा हमसे पूछे कि—यह कहाँ से खरीदा, अच्छा है आदि। अगर कोई नहीं पूछता है तो मन कमजोर हो जाता है। अनेक प्रकार के दिखावे के उपाय करते हैं। इससे आत्मा का घात होता है, मायाचारी आता है। आत्मा का घात करके भी चौबीसों घंटे अपने अहम् को पुष्ट करना चाहते हैं। यह क्या अपने घर में आग लगाना नहीं है ? हमें समझना चाहिए कि इस अहम् की कीमत बहुत बड़ी देनी पड़ती है।

अपना सहारा !

कृष्ण भोजन करने बैठे हैं और रुक्मणि उन्हें पंखा झल रही हैं। अचानक कृष्ण थाली छोड़कर द्वार की तरफ भागे। किन्तु द्वार पर जाकर रुक गये और वापिस लौटकर भोजन करने बैठ गये। रुक्मणि ने पूछा, “आप भोजन करते-करते उठकर कैसे भागे और फिर वापस भी लौट आये, क्या

योजन था ?” कृष्ण ने कहा, “मेरा एक भक्त शहर से जा रहा था, लोग उसे पत्थर मार रहे थे। उसके माथे से खून बह रहा था। उसके कपड़े लोगों ने फाड़ डाले थे। लोग उसे पत्थर मार रहे थे और वह गीत गा रहा था। इसलिए मैंने ज़रूरत समझी कि मैं जाऊँ, क्योंकि वह बिल्कुल बेसहारा था। परन्तु जब मैं द्वार तक पहुँचा तब तक उसने पत्थर उठा लिया था। इस प्रकार अब वह बेसहारा नहीं था। उसे अब मेरी कोई ज़रूरत नहीं थी। इसलिये मैं वापिस लौट आया।”

अब अपनी बात है। जब व्यक्ति बेसहारा हो जाता है उसी दिन उसे अपना सहारा मिल जाता है। हम लोग इतने कमजोर हैं कि कोई न कोई सहारा पकड़े रहते हैं। स्वतंत्र हुए बिना सत्य की उपलब्धि नहीं होती। इसीलिये, इसी प्रकार हमें मत का, सम्प्रदाय का सहारा छोड़ने पर अपना सहारा उपलब्ध होता है जिससे सत्य के पीछे खड़े हो सकें।

अपना-पराया

राजा श्रेणिक के राज्य काल में एक सेठ के दो स्त्रियाँ थीं। दोनों में बहुत प्रेम था। उनमें से एक के एक पुत्र पैदा हुआ। दोनों स्त्रियाँ उस बच्चे को बहुत प्रेम से पालती थीं। उस बच्चे को यह अनुभव ही न हो सका कि मेरी अपनी माँ कौन-सी है ? काल पाकर सेठ मर गया और दोनों स्त्रियों में किसी को यह से झगड़ा हो गया। अब दोनों में से प्रत्येक स्त्री उस बच्चे को अपना कहने लगी। यह निश्चित होना मुश्किल हो गया कि बच्चे की अपनी माँ कौन है ? इसलिये के लिये राजा श्रेणिक के पास दोनों स्त्रियाँ गयीं। राजा श्रेणिक ने राजाला अपने लड़के अभय कुमार के जिम्मे कर दिया। बहुत दिन हो गये अभय कुमार भी फैसला न कर सका। कोई उपाय समझ में नहीं आने पर एक रोज अभय कुमार ने दोनों स्त्रियों को बुलाया और बच्चे को बुलाया। दोनों में से प्रत्येक ने बच्चे को अपना बताया। बच्चा भी यही कहने लगा कि मैंने प्रत्येक स्त्री एक-दूसरी से ज्यादा प्यार करती है। कोई उपाय न आकर अभय कुमार ने कहा—“इस लड़के के बीच से दो टुकड़े करके एक

इसको और एक उसको दे दिया जाये।” जब जल्लाद दो टुकड़े करने लगे तो उन दो स्त्रियों में से एक ने कहा—“मुझे बच्चा नहीं चाहिए। पूरा पूरा इस दूसरी को दे दिया जाये।” अभय कुमार समझ गये कि यह लड़की इसी स्त्री का है।

अब अपनी बात है। जिस ज्ञानी को भेद-ज्ञान हो जाता है, जिस आत्मदर्शन कर लिया है, अपने स्वभाव को, चैतन्य को शरीर से अलग दे लिया है, वह शरीर-लड़का-बच्चा-माँ-बाप को, धन-वैभव को अपना कहता है परन्तु शब्दों से ही अपना कहता है, भीतर से अपनापना न आता। गोद के लड़के में और पेट के बच्चे में जो अन्तर है वह बराबर बर रहता है। गोद लेने वाली उस बच्चे की ज्यादा देखरेख करती है, फिर अपनापना नहीं आता। यही बात आत्मदर्शन की है। जिसने शरीर से भी अपने को देख लिया वह वचन-काय से संसारिक कार्य करते हुए भी उस मन अपने स्वभाव में ही लगा रहता है। ऐसे व्यक्ति के संसार में आस नहीं होती।

कर्म के मध्य में भी चेतना का स्वाद

एक बार अकबर बादशाह और बीरबल बैठे थे। बादशाह ने कहा—“मैंने एक स्वप्न देखा कि तुम और हम दोनों भागे जा रहे हैं और तुम तो गोबर के खड़टे में गिर गये और मैं गन्ने के रस के खड़टे में गिर गया। बीरबल ने कहा—“मैंने भी एक स्वप्न देखा है जो इससे थोड़ा आगे है। आप तो गन्ने के खड़टे में गिर गये और मैं गोबर के खड़टे में गिर गया इतना तो ठीक; परन्तु इससे आगे यह और था कि आप मुझे चाट रहे और मैं आपको चाट रहा हूँ।”

अब हमारी बात है। यह आत्मा कर्म के, कषाय के खड़टे में गिरी है। परन्तु यह आत्मा कर्म का फल सुख-दुःख का स्वाद भी ले सकती अथवा अपने ज्ञान का स्वाद भी ले सकती है। गोबर के खड़टे में पड़ा अथवा गन्ने के रस के खड़टे में, सवाल यह नहीं है। सवाल है स्व

सका लेना चाहता है, किसका ले रहा है। कर्म के मध्य में पड़ा हुआ मैं चेतन स्वभाव का स्वाद ले सकता है। ज्ञान भी हमारे पास है और कर्म फल भी हमारे पास है। स्वाद लेने वाले हम ही हैं। हम चाहें तो ज्ञान का स्वाद ले लेवें और हम चाहें तो कर्म का स्वाद ले लेवें। चेतना का स्वाद मैं आज तक कभी नहीं लिया। अपने में लगे तो अपना स्वाद आवे, पर लगे तो कर्म का स्वाद आवे। अपना स्वाद आज तक इसने नहीं लिया जो महास्वाद है। जिसके आगे समूचे स्वाद बेस्वाद हो जाते हैं।

मैं अपने लिये गाता हूँ मैं आपके लिए गाता हूँ

एक बार अकबर बादशाह ने तानसेन से उसका गाना सुनकर पूछा कि, तानसेन ! क्या इससे भी अच्छा और कोई गा सकता है ?”

तानसेन—“जी महाराज ! मेरे गुरु हैं, जो इससे भी अच्छा गा सकते हैं।”

अकबर ने कहा—“मैं तुम्हारे गुरु के दर्शन को चलूंगा।” और अकबर बादशाह तानसेन के साथ उसके गुरु की झोंपड़ी में गये। सबरे का समय था। तानसेन के गुरु भगवान का भजन गा रहे थे। बादशाह सुनकर मोहित हो गये। तानसेन बादशाह को सजग करके लेकर आये। बादशाह ने पूछा—“तानसेन ! क्या तुम ऐसा नहीं गा सकते ?” तानसेन ने कहा—“नहीं हुजूर !” बादशाह ने पूछा—“क्यों ?” तानसेन ने बताया—“मैं आपके लिये गाता हूँ और मेरे गुरु अपने लिये गाते हैं।”

अब हमारी अपनी बात है। अगर भगवान की भक्ति भोगों के लिये, सम्पत्ति के लिये अथवा मान-बढ़ाई के लिये की जाए तो वह सच्ची भक्ति नहीं होती। वह तो मजदूरी के लिये किये हुए काम की तरह होगा। क्योंकि इसके बदले में हमें कुछ चाहिए। परन्तु जो भक्ति उन जैसा बनने के लिये उनके गुणों में अनुरागपूर्वक होती है वह सच्ची भक्ति है। जहाँ बदले में कुछ चाह नहीं है, वह निष्काम भक्ति है। जहाँ देने-लेने की बात है वह भक्ति नहीं है, व्यापार है।

यह भी स्वप्न, वह भी स्वप्न

एक बादशाह का इकलौता बेटा बीमार था। बादशाह कई रोज से सोया था। लड़के के पास बैठा था। बैठे-बैठे उसे नींद आ गयी। उसने स्वप्न देखा कि उसके चार लड़के हैं, जो एक-से-एक सुन्दर हैं और वह उन साथ बैठा है। इतने में अचानक जोर से बेगम साहिबा रोने लगी। बादशाह की नींद खुल गयी। उसने देखा कि उसका इकलौता बेटा मर रहा है। बादशाह भौंचक्का रह गया और सोचने लगा कि पहले वाला स्वप्न कि यह स्वप्न है ? क्योंकि वह भी मैंने प्रत्यक्ष देखा है और यह भी प्रत्यक्ष देख रहा हूँ।

अब अपनी बात है कि स्वप्न तो दोनों ही हैं। एक ज्यादा समय का और एक कम समय का है। दूसरा जगने पर स्वप्न लगता है और हम स्वप्न से कभी जगे नहीं हैं। जो जग गये हैं उन्हें वह भी स्वप्न लगने लगता है। अगर स्वप्न में चोट लग गयी तो जगने पर इलाज नहीं कर सकते क्योंकि उसकी समझ में है कि यह स्वप्न था। इसी प्रकार इस संसार में स्वप्न से जगेगा तब जानेगा कि यह संसार भी एक स्वप्न है। इसमें कुछ अपना नहीं है। सत्य तो वह है जो इस स्वप्न को देखने वाला है। उसे देखने वाले का ज्ञान हो जावे तो संसार स्वप्न बन जावे। अन्यथा इन स्वप्नों में जीवन पूरा हो जाता है। कभी कोई मीठा स्वप्न लेकर खुश हो जाता है, कभी कोई दुःख का स्वप्न लेकर दुःखी हो जाता है। दुःख के स्वप्न से घबराता है, मीठा स्वप्न लेना चाहता है। परन्तु दोनों ही स्वप्न हैं। यह पता लगता है जब स्वप्न के देखने वाले को जानता है।

घर में बैरागी

एक बार एक सेठ ने चक्रवर्ती भरत महाराज से पूछा—“महाराज !

आपको घर में ही बैरागी कहते हैं, यह हमारी समझ में नहीं आता; क्योंकि आपके पास इतना वैभव, इतनी स्त्रियाँ और इतनी धन-सम्पत्ति है। इसके रहते हुए आप घर में बैरागी कैसे रह सकते हैं ?” भरत महाराज ने कहा—“कुछ दिन बाद आपके प्रश्न का उत्तर दूँगे।”

कुछ समय बाद एक दिन भरत महाराज ने उस सेठ को बुलवाया। उसके हाथ में तेल से लबालब भरा एक कटोरा दिया। दो सिपाहियों को लगी तलवार लेकर उसके साथ जाने का हुक्म दिया और कहा कि इनको हमारे पूरे रनिवास में घुमाकर लाओ, किन्तु अगर इस कटोरे से एक बूंद भी तेल गिर जाये तो इनका सिर धड़ से अलग कर दिया जाये। सेठजी को समूचे रनिवास और वैभव में घुमाकर लाया गया। भरत महाराज ने सेठ जी से पूछा—“आपने क्या देखा ?” सेठजी ने कहा—“महाराज ! इस तेल के सिवाय मेरे को कुछ भी दिखाई नहीं दिया।” भरत महाराज ने कहा—“आपके प्रश्न का यही उत्तर है। हालत मेरी यही है। मेरे को समूचे वैभव में रहते हुए भी मेरे चैतन्य के सिवाय कुछ नहीं दिखाई देता।”

अब अपनी बात है। मंदिर जी में जाते हैं तो वहाँ भगवान की जगह वैभव दिखाई देता है। घर में तो वैभव में हैं ही। इसके अलावा जो वैभव नहीं प्राप्त हुआ है और प्राप्त करने की अभिलाषा है वह भी कल्पना के बल पर तैयार करके हम उसी में लगे हुए हैं। जैसे धाय के बच्चे का पालन करते हुए भी उसमें अपनापन नहीं है। जैसे मुनीम के, मालिक का काम करते हुए भी उसके लाभ-हानि में अपनापन नहीं है। धर्मशाला में ठहरते हुए और उस कमरे को अपना कहते हुए भी उसमें अपनापन नहीं है। ऐसी ही स्थिति हमारी भी धन-वैभव के बीच में भी बन सकती है, अगर हम भी ज़रूर से भिन्न अपने आत्म स्वभाव का ज्ञान कर लें। इसकी दवा आत्म-दर्शन ही है। तब संसार में रहते हुए भी संसार हमारे में नहीं होगा। नाव पानी में होगी परन्तु पानी नाव में नहीं होगा। घर में रहते हुए भी घर हमारा नहीं होगा। देह में रहते हुए भी विदेही रहेंगे।

तेरा कार्य तेरा—मेरा कार्य मेरा

एक बार एक जंगल में एक साधु बैठे थे। उनके पास उनका शिष्य बैठा हुआ था। उसी समय एक व्यक्ति आया और साधु को भला-बुरा कहने लगा। अंत में क्रोध में आकर उसने उन पर थूक दिया। साधु कुछ नहीं बोले। शिष्य ने कहा कि कैसा नीच था, जाते-जाते थूक भी गया। साधु ने कहा—जो काम वह सामने करके गया, वही काम तुम उसके पीछे से कर रहे हो, फर्क क्या है ? दूसरे रोज वह आदमी आया और माफी माँगने लगा। साधु ने कहा—“कल का कृत्य भी तुम्हारा था और आज का कृत्य भी तुम्हारा है। मेरा तो कुछ भी कृत्य नहीं है। कल भी नहीं था, आज भी नहीं है। तुम्हारे कृत्य के तुम्हीं मालिक हो। मेरा तो उससे कोई सम्बन्ध नहीं है।”

अब अपनी बात है। हम दूसरे के कृत्य को अपने साथ जोड़ लेते हैं। यह गलती हमारी है। अगर अपने साथ नहीं जोड़ें तो वह कृत्य उसी का है। किसी को कपड़ा खूँटी पर टांगना है, कपड़ा उसी का है। वह किसी भी चीज़ को खूँटी बना सकता है। किवाड़ पर कपड़े को टांग दे तो वह किवाड़ ही उसके लिए खूँटी बन जाता है। खूँटी उस कपड़े के साथ सम्बन्ध न जोड़े, तो कपड़ा टांग दें तब भी उसी का “जिस व्यक्ति ने कपड़ा टांगा है उसका” कपड़ा है और खूँटी से उतारता है तब भी उसी का है। अच्छा कपड़ा टांगा तब भी उसी का है, बुरा टांगा तब भी उसी का है। खूँटी का तो कपड़े से कोई सम्बन्ध नहीं है। साधु तो बीच में खूँटी का काम कर रहे थे। यह बात समझ में आ जाए तो क्रोधादि करने का कोई प्रयोजन नहीं रहे।

आत्मस्वभाव मूल है और आचरण उसका प्रतिफल है !

एक बार एक व्यक्ति की बूढ़ी माँ बीमार पड़ी। उसके एक बगीचा था, जिसकी वह देखरेख किया करती थी। वह बहुत सुन्दर था। वह बड़ी चिन्तित थी; अपने लिये नहीं, परन्तु अपने बगीचे के लिये। उस व्यक्ति ने अपनी माँ से कहा कि तुम्हारे बगीचे की देखरेख मैं अच्छी तरह कर दिया करूँगा। तुम बेफिक्र रहो। दूसरे दिन से वह एक-एक पत्ते की मिट्टी झाड़ने लगा, एक-एक फूल को कपड़े से पोंछने लगा। परन्तु पेड़ और पौधे मुरझाने लगे। पंद्रह दिन में उसकी माँ की सारी बगिया उजड़ गयी। पंद्रह दिन बाद उसकी माँ बीमारी से ठीक होकर आई। उसने अपने लड़के से पूछा कि यह क्या हुआ ? उसने कहा, “मैंने तो एक-एक फूल पर पानी छिड़का, एक-एक पौधे को गले लगाकर प्रेम किया, परन्तु फिर भी सब सूख गये।” उसकी माँ हँसने लगी और कहा कि, “फूलों के प्राण उनकी जड़ में होते हैं जो दिखायी नहीं पड़तीं। पानी फूलों को नहीं देना पड़ता, जड़ों को देना पड़ता है। फिक्र पत्तों की नहीं, जड़ों की करनी पड़ती है।”

यह बात हमारी है। हम लोग आचरण पर तो जोर देते हैं, परन्तु उसकी जड़ की कोई खबर नहीं है। आचरण तो प्रतिफल है। यदि जड़ को पानी मिलेगा, जड़ की संभाल की जायेगी तो फल-फूल-पत्ते तो अपने-आप ही आवेंगे और वे सही रूप में रहेंगे। परन्तु जड़ की संभाल नहीं रखी तो फल-फूल-पत्ते की संभाल करते-करते भी मुरझा जायेंगे। अपना चैतन्य स्वभाव है वह तो जड़ है, मूल है उसको संभाले तो आचरण तो फूल-पत्तों की तरह अपने आप आ जायेगा। अतः निरन्तर आत्मस्वभाव को प्राप्त करने की चेष्टा करना चाहिए।

दमन !

एक होटल में एक रात के लिये एक आदमी ठहरने के लिये आया। मैनेजर ने कहा कि हमारे पास इस समय कोई कमरा खाली नहीं है। मात्र एक कमरा है, परन्तु उस कमरे के नीचे के कमरे में एक सज्जन ठहरे हुए हैं; अगर ऊपर वाले कमरे में कोई खड़-बड़ हो जाये, आवाज हो जाये, या कोई जोर से चले तो झगड़ा हो जाता है, अतः हम आपको यहाँ नहीं ठहरा सकते। उस आदमी ने कहा कि मैं दिन भर बाजार में ही रहूँगा, रात दो बजे लौटूँगा और चुपचाप सो जाऊँगा। सुबह छः बजे उठकर चला जाऊँगा। आवाज न हो, इस बात का मैं पूरा खयाल रखूँगा। मैनेजर ने कमरा दे दिया। वह रात को दो बजे लौटा। आते ही उसने बिस्तर पर बैठकर अपने एक पैर का जूता खोलकर जोर से पटका। अचानक उसे खयाल आया कि आवाज नहीं होनी चाहिए और दूसरे पैर का जूता धीरे से खोलकर रख दिया और सो गया।

एक घंटे बाद नीचे वाले कमरे में ठहरे हुये सज्जन ऊपर आये और दरवाजा खटखटाया। कहा कि, “उस दूसरे जूते का क्या हुआ ? पहले जूते की तो आवाज हुई परन्तु उस दूसरे का क्या हुआ, उसकी आवाज की मैं एक घंटे से प्रतीक्षा कर रहा हूँ। अपने को समझाने की चेष्टा की कि मुझे क्या मतलब है, परन्तु वह जूता मेरे दिमाग से निकल ही नहीं रहा है, मुझे सोने ही नहीं दे रहा है। इसलिये आपसे पूछने आया हूँ, जिससे मैं शांति से सो सकूँ।”

क्या यही हालत हमारी नहीं है ? दमन किया हुआ चित्त हमेशा व्यर्थ की बातें उत्पन्न करता रहता है। क्रोध को दबाओ, तो क्रोध प्राणों में घुसकर चक्कर काटने लगता है। काम-वासना को दबाओ तो वह सिर पर घूमने लगती है। एक तरफ से दबाओ तो दूसरी तरफ से निकलने लगती है, किसी अन्य को कारण बनाकर निकलती है। यह दमन का फल है।

जानि कहाँ से, कैसे मिले ?

ज्ञान और राग साथ होने पर भी भिन्न !

एक बर्तन में चीनी और पानी डालकर आग पर रखें, जैसे कि चाशनी बनाते हैं। आग जितनी तेज होगी, चीनी उतनी ही गर्म होती जाएगी। यहाँ, एक ओर तो चीनी का स्वाभाविक गुण मीठापन मौजूद है और दूसरी ओर चीनी गर्मपन है; साथ ही बर्तन और अग्नि का संयोग भी है। चीनी के अत्यन्त गर्म होने पर भी उसका मीठापन कायम है—मीठेपन का स्रोत चीनी स्वयं है। यद्यपि गर्म तो चीनी ही हुई है फिर भी गर्मपना उसका अपना नहीं है, अपितु अग्नि के सम्बन्ध से आ रहा है—गर्मपना के अभाव में भी चीनी का स्वाभाव नहीं है। पुनश्च चीनी और बर्तन का संयोग सम्बन्ध है। बर्तन में हुआ भी चीनी चीनी-रूप ही है, बर्तन-रूप नहीं है।

इसी प्रकार की स्थिति संसारी आत्मा के साथ है। चीनी के मीठेपन के ज्ञान पर आत्मा का ज्ञायक स्वभाव है जो शाश्वत है, त्रिकाल रहने वाला है जिसका कभी अभाव नहीं हो सकता, जिसके अभाव में आत्मा का ही अभाव होने का असंभव प्रसंग प्राप्त होता है। चीनी में आए गर्मपन रूप प्रकार की भाँति ही संसारी आत्मा में राग-द्वेषादि विकारी भाव है जो अरूपी अग्नि के सम्बन्ध से हो रहे हैं। ये राग-द्वेषादिक आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, इनके अभाव में भी आत्मा का अभाव नहीं है। उदाहरण में बर्तन स्थान पर यहाँ दृष्टान्त में शरीर है। चौरासी लाख योनियों में चाहे जो भी आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हो, उसमें रहते हुए भी आत्मा उस शरीर-रूप नहीं होता अपितु अपने-रूप ही रहता है।

यह जीव राग-द्वेषादि भावों और शरीर को ही आत्मा माने हुए है। हमने अभी तक यह जाना ही नहीं कि इस पर-संयोगों के अलावा मेरा अपना स्वरूप क्या है ? अतः सबसे पहले तो यह जानें कि चीनी के मीठेपन की भाँति ही मेरा आत्मा सदा से ज्ञानदर्शन-रूप था, आज भी

ज्ञानदर्शन-रूप है और सदा इसी रूप रहेगा तथा इनके विपरीत जो रागा और शरीरादि हैं वे मेरे अपने नहीं हैं। बल्कि क्रमशः मेरे विकारी परिणाम और परसंयोग हैं। इस प्रकार मान्यता ठीक होने पर, जैसा अपनापन इस अब तक रागादि और शरीरादि में था वैसा अपनापन अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव में आए तथा रागादि और शरीरादि की मौजूदगी रहते हुए भी उन अपनापन न रह जाए, यही भेद-विज्ञान है। ऐसा होने पर, रागादि और शरीरादि में, अब तक जो ठहराव था, उसकी जगह अब अपने स्वरूप ठहरे, उसका अनुभव करे, निज-रूप में तन्मय हो जाए, लीन हो जाए, अग्नि बुझ जाए और चीनी ठंडी हो जाये, अर्थात् कर्म के संयोग का रागादिक विकारी परिणामों का अभाव हो जाए, आत्मा शुद्ध जाए—उसके स्वाभाविक गुणों का पूर्ण विकास हो जाए।

चीनी के इस दृष्टान्त द्वारा हमें यह समझना है कि जिस प्रतीक मीठापन और गर्मपन दोनों एक साथ चीनी में रह सकते हैं और गर्मपन के अभाव में भी मीठापन कायम रहता है, वह मिट नहीं सकता, उसी प्रकार हम संसारी जीवों में ज्ञाता-द्रष्टापन और रागादिक साथ-साथ हैं और रागादिक के अभाव में भी हमारे ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव का अभाव नहीं हो सकता। रागादिक को स्वभाव मानना छोड़कर यदि हम अपने ज्ञानदर्शन स्वभाव अपनापन स्थापित करें और स्वभाव में ही ठहर जायें तो हमारे विकार नाश हो जाए।

दृष्टान्त (चीनी) और दृष्टान्त (आत्मा) में एक महत्वपूर्ण अन्तर समझ लेना जरूरी है। चीनी तो एक जड़ पदार्थ है। उसे आग पर रखकर गर्म करें तो वह मना नहीं कर सकती—उसे तो गर्म होना ही पड़ेगा। परन्तु जीव एक चेतन तत्त्व है, स्वयं सामर्थ्यवान है और उसमें इच्छा स्वतंत्रता है। यदि वह चाहे तो पूर्व संस्कार अथवा कर्म-रूपी अग्नि अवलम्बन लेकर विकारी परिणाम करे अथवा अवलम्बन न लेते जागरूक बना रहे—अवलम्बन लेना, न लेना, अथवा अपनी शक्ति अनुसार कम-ज्यादा लेना, यह सब स्वयं जीव पर निर्भर करता

अपनी चेतन-शक्ति को मत भूलना !

किसी समय एक तोता अपने गुरु के पास पढ़ता था। एक दिन उसने गुरु से कहा — गुरु जी ! मैं हरे-हरे खेतों के ऊपर उड़कर देखना चाहता हूँ। गुरु ने बहुत मना किया किन्तु तोता नहीं माना, अपनी याद पर अड़ा रहा। तब गुरु ने कहा — अगर तू जाना ही चाहता है तो जा, तेरी मर्जी ! लेकिन इतना याद रख कि खेतों पर ऊँचे-ऊँचे से उड़ना, नीचे बिखरे हुए अनाज के दानों को देखकर मन न भूलना। और, यदि कदाचित् तेरा मन चल जाए तो भी नीचे मत उतरना। कदाचित् तू नीचे भी उतर जाए तो फिर नलिनी यन्त्र पर जा बैठ जाना। और कदाचित् तू नलिनी पर भी बैठ जाए तो उलटना मत। और यदि उलट भी जाए तो उसे छोड़कर उड़ जाना। यह कभी मत भूलना कि तू उड़ सकता है, कि तुझे उड़ने से कोई रोक नहीं सकता।

गुरु जी की सीख याद करके तोता उड़ चला। उड़ते-उड़ते वह खेतों के ऊपर पहुँचा तो उसे अनाज के सुंदर-सुंदर दाने बरसाई पड़े। गुरु जी की दी हुई सीख वह भूल गया और दानों पर जा लगाकर नीचे उतरने लगा। एक क्षण के लिए उसे गुरु जी के शब्द याद आए कि नलिनी पर नहीं बैठना है, तो भी उसे लगा कि वे सुंदर-सुंदर दाने उसे बुला ही रहे हैं, अतः वह नलिनी पर जा बैठा। जबकि नलिनी पर बैठना था कि वह उलट गया। अब वह रोने लगा।

यह बात बिल्कुल भूल गया कि मुझमें उड़ने की शक्ति है, कि नलिनी ने मुझे नहीं पकड़ा है बल्कि मैंने ही उसे पकड़ रखा है, कि मैं उसको छोड़कर उड़ना चाहूँ तो अब भी उड़ सकता हूँ। नतीजा यह हुआ कि बहेलिये ने आकर तोते को पकड़ लिया और पिंजरे में ले करके ले चला।

अब अपनी बात पर आते हैं। आचार्यों ने हमें बार-बार समझाया है कि हे जीव ! हे चेतन तत्त्व ! तू निज में, स्वयं में रहना। निज चैतन्य के बाहर मत जाना। कदाचित् तू बाहर जाए तो किसी पर-पदार्थ पर मन न चलाना। कदाचित् तेरा मन चल जाए तो पर-पदार्थ में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि मत करना। और कदाचित् किसी पदार्थ में इष्टानिष्ट बुद्धि भी कर बैठे तो उसमें अपनापन कदापि न मानना। कदाचित् तू यह सब भी कर बैठे तो भी यह भूलना कि मैं एक अकेला चेतन द्रव्य हूँ; कि कोई भी अन्य पदार्थ पर-पदार्थ मुझे अपने आधीन, पराधीन नहीं बना सकता; अपना चेतनशक्ति को सदा याद रखना। अपनी स्वाधीनता को मत भूलना।

परन्तु हा ! आचार्यों के द्वारा इस प्रकार भली-भाँति सम्बोधित किये जाने पर भी हम तो स्वयं को भूलकर, अपना चेतनशक्ति को भूलकर, अपने को शरीर-रूप, कर्मफल-रूप, कर्म आधीन माने बैठे हैं। अत्यन्त खेद है कि यह जीव अज्ञानवश, अपने चैतन्य-तत्त्व का अहसास न होने से, कर्म के आधीन हुआ पड़ा है।

विद्वान की अज्ञानता

संयोगवश किसी कुम्हार को रास्ते में कहीं एक हीरा पड़ा मिल गया। उसने यह सोचकर उठा लिया कि चमकदार, अच्छा-सा पत्थर है, के खेलने के काम आएगा। फिर उसने सोचा कि अपने गधे के पीछे में बाँध दूँ तो भला लगेगा, सो उसने उसमें डोरा पिरोकर गधे के गले में लटका दिया। किसी दिन जब वह कुम्हार अपने गधे पर लादकर बेचने के लिये हाट को जा रहा था तो कोई जौहरी साँसे से आ रहा था। जौहरी की नजर ज्यों ही गधे के आभूषण पर पड़ी वह चौंक गया। उसने ऐसा नायाब हीरा वास्तव में पहले कभी

सा था। उसने कुम्हार से पूछा - क्यों भाई ! इस पत्थर का क्या काम लोगें? कुम्हार कुछ सोचकर बोला - चलो, आठ आने दे दो। जौहरी भी महाकंजूस था, बोला - चार आने में दोगे? इस पर कुम्हार ने कहा कि रहने दो, यह इसके गले में ही ठीक है।

जौहरी भी यह सोचकर आगे बढ़ गया कि अभी थोड़ी देर में अपने-आप चार आने में देने के लिये आवाज़ लगाएगा। कुम्हार अभी भी दूर ही गया था कि कोई दूसरा जौहरी भी संयोगवशात् उधर निकला। उसने कुम्हार को एक रुपया देकर वह पत्थर खरीद लिया। इतने में पहला जौहरी वापस लौटा, परन्तु सौदा हो चुका था, वह दूसरे जौहरी के हाथ में जा चुका था। निराशाजन्य क्रोध से वह कुम्हार से बोला - अरे मूर्ख ! तूने करोड़ों की चीज़ एक रुपये में दे दी ! अब कुम्हार हँसने लगा, फिर बोला - चलो, मुझे तो ज्ञान नहीं थी, इसलिये उसे पत्थर समझकर एक रुपये में दे दिया। किन्तु तुम तो जौहरी थे, करोड़ों के हीरे के आठ आने भी नहीं दे सके ? असल में, जो गँवाया है सो तुम्हीं ने गँवाया है, मैंने नहीं गँवाया।

अब अपनी बात करते हैं। इस संसार में अधिकतर लोग भोगी हैं, वे अपना हीरा-सा मनुष्य जन्म धन-सम्पत्ति के लिये, पुत्रादिक के लिये, मान-बड़ाई आदि के लिये गँवा रहे हैं - जो तो ज्ञान नहीं है। परन्तु, उन्हें क्या कहें जिन्हें सत्यमार्ग के ज्ञान का सुसंयोग भी मिला है, जिन्होंने शास्त्र कण्ठस्थ कर रखे हैं, योज आत्मा और परमात्मा की बातें करते हैं, पूजा-पाठ आदि की आचारिकताओं में भी लगे हुए हैं, किन्तु आत्म-हितकारी ध्यान के प्रयत्नशील नहीं होते, उसकी सम्यक् चेष्टा नहीं करते। उनका ज्ञान भी क्या व्यर्थ ही नहीं जा रहा? क्या उन्होंने हीरे-सी अनमोल मानव पर्याय की महत्ता को समझा है?

राग और द्वेष की गोलियाँ

किसी मधुमक्खी की एक साधारण मक्खी से दोस्ती थी। मधुमक्खी किसी सरोवर में उगे कमल के फूलों पर बैठकर उनका पीती थी, जबकि साधारण मक्खी गंदगी, विष्ठा इत्यादि पर करती थी। मधुमक्खी जब भी अपनी मित्र उस दूसरी मक्खी मिलती, तभी उसे बतलाती कि कमल-पुष्पों के रस का कैसा और अद्भुत स्वाद है। फिर उससे कहती - चल तू भी मेरे चल न। एक बार तो ज़रूर चल, तुझे भी कमल का रस पिला लाऊँ। तूने अपने जीवन में ऐसा रस कभी चखा भी न होगा।

मधुमक्खी द्वारा इस प्रकार रोज़-रोज़ अनुरोध किये जाने दूसरी मक्खी भी एक दिन बोली कि चल, एक बार तो तेरे चलती ही हूँ। वह चलने को राज़ी तो हुई लेकिन मन में लगी कि इसके साथ जाकर कहीं भूखों न मरना पड़े। ऐसा सो उसने मधुमक्खी से कहा - मैं अभी तैयार होकर आती हूँ। उसने छिपकर अपने दोनों नथुनों में विष्ठा की एक-एक गोली ली और मधुमक्खी के साथ चल पड़ी।

अपने साथ उस सरोवर में ले जाकर मधुमक्खी ने उसे के एक फूल पर बैठाया और बोली कि अब तू निश्चिंत होकर रसपान कर। फिर वह मधुमक्खी स्वयं भी कमल-पुष्पों का रस लगी। वह बीच-बीच में नवागन्तुक मक्खी से पूछती भी जाती कि अरी मित्र ! कितना बढ़िया स्वाद है? कैसा आनंद आ रहा है

मधुमक्खी द्वारा इस प्रकार बार-बार प्रशंसा किये जाने दूसरी मक्खी से नहीं रहा गया। वह बोली - तुम तो बिना वभाव-विभोर हुई जा रही हो, मुझे तो यहाँ भी वही विष्ठा का आ रहा है। यह सुनकर मधुमक्खी पहले तो आश्चर्य में प

पर कुछ सोचकर उसने उस मक्खी को पकड़कर ध्यान से देखा तो पाया कि उसने तो अपने दोनों नथुनों में विष्ठा की गोली रखी हुई थी। अब उसने अपना माथा ठोक लिया।

अब अपनी बात करते हैं। क्या यही दशा हमारी भी नहीं होती? आत्मा की कथनी सुनते हैं, आगम का अध्ययन करते हैं। गायान् आचार्य आत्मा का कथन करते हुए कहते हैं — “स्वानुभव में आनन्द अपूर्व आनन्द है ! हम उस आनन्द में मग्न हो रहे हैं। तुम भी इसी तरह इस आत्म-तत्त्व का आनन्द लो। तुम चाहो तो अवश्य प्राप्त कर सकते हो। वह आत्म-स्वरूप आनन्द से परिपूर्ण है, लबालब भरा हुआ है।” परन्तु हम तो पाप-पुण्य की अथवा राग-द्वेष की गोलियाँ अपने अभिप्राय में दबाए हुए आगम सुनने को आते हैं और उन्हीं का स्वाद लेकर चले जाते हैं। आचार्यों के द्वारा बार-बार पूछे जाने पर भी पाते हैं कि हमें तो पहले जैसा ही स्वाद आ रहा है — जो कि अथवा राग-द्वेष का ही स्वाद होता है जिसके हम सदा से अभ्यस्त हैं। अथवा पुण्य के उदय से प्राप्त सामग्री के सद्भाव में होने वाले अथवा पुण्यजनित सुख का ही हम सुख-रूप से अनुभव कर रहे होते हैं। यदि विपरीत, यदि अपनी बुद्धि को पूर्वाग्रहों से खाली करके तथा अपने अभिप्राय को निर्मल करके आएँ और आचार्यों के द्वारा प्रोत्पादित आत्म-तत्त्व का निरूपण सुनकर निजात्म-स्वरूप का स्वाद तो वास्तविक आनन्द की प्राप्ति अवश्य हो।

वस्तुस्थिति को देखने की कला

एक बार की बात है, एक आदमी ने आकर कहा — मेरे पिता जी को एक धक्का लग गया, वे गिर पड़े और उनके दो दाँत टूट गए। मैं पूछा — उनके कितने दाँत थे? वह बोला — बत्तीस दाँत होते

हैं। मैंने पूछा - तब कितने बचे? वह बोला - तीस बचे। कहा - कर्म ने बत्तीस दाँत दिये थे, उनमें से दो दाँत उसने वा ले लिये, सो तीस दाँत फिर भी बच गए। कर्म अगर चाहता सब-के-सब वापस ले लेता, उसने तो सिर्फ दो ही लिये। इसी हमें तो उस कर्म का अनुग्रह मानना चाहिये कि वह मात्र दो ही गया, बाकी सब छोड़ गया। इसमें दुखी होने की तो कोई बात नहीं है।

अब अपनी बात करते हैं। अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव अलावा, जिस किसी पर-पदार्थ का भी सम्बन्ध हमारे साथ है - वह शरीर हो, जति-कुल या मान-सम्मान हो, स्त्री-पुत्रादिक धन-सम्पत्ति हो - सभी कर्म का कार्य है। कर्म ने अपनी चीज़ हम पास रख रखी है और कह गया है कि जब उसे ज़रूरत होगी अपनी चीज़ हमसे बिना पूछे, बिना कोई एडवांस नोटिस दिये, वा ले जाएगा। हाँ, इतना वह और कह गया है कि "जब तक मैं आप चीज़ वापस न ले जाऊँ, तब तक आप उसे अपने काम में ले स हो।" कर्मकृत सभी संयोग, जब वह रखकर गया तब भी उसी के और जब वह वापस ले गया तब भी उसी के हैं। कितना ले ग इसका सवाल नहीं है। सवाल यह है कि कितना छोड़ गया जितना छोड़ गया वह उसकी मेहरबानी है। उदाहरण के लिये, गिलास में आधा पानी भरा है। हम देख सकते हैं कि यह इस खाली है। दूसरी ओर, हम यह भी देख सकते हैं कि यह इतना भ हुआ है। दृष्टियाँ दोनों ही हमारी हैं। पहली दृष्टि से वस्तुस्थिति देखने पर विषाद होगा, जबकि दूसरी दृष्टि से देखने पर परिणामों शान्ति रहेगी। वास्तविकता तो यही है कि बहिर्जगत् में हमारा अप कुछ भी नहीं है।

पुण्य और पाप

प्राचीन समय की बात है कि एक शूद्र परिवार में दो पुत्र हुए। संयोग की बात कि उनमें से एक लड़के का पालन-पोषण किसी ब्राह्मण परिवार में हुआ, जबकि दूसरा लड़का अपने परिवार में ही पला-बढ़ा। इसलिये दूसरा लड़का तो स्वयं को शूद्र मानता ही था, किन्तु पहला लड़का - जो ब्राह्मण परिवार में पला था - वह अपने ब्राह्मण ही मानने लगा। वास्तव में देखा जाए तो दोनों ही शूद्र हैं।

अब दृष्टान्त से दार्ष्टान्त पर आते हैं। आत्मा के परिणाम या भाव दो प्रकार के हैं - एक शुद्ध और दूसरे अशुद्ध। शुद्ध माने राग-द्वेष से रहित। अशुद्ध माने राग-द्वेष से युक्त। अशुद्ध परिणामों को भावों के फिर से दो भेद किये जाते हैं - एक शुभभाव, दूसरे अशुभभाव। यद्यपि करुणा, दया, दान आदि के भाव 'शुभ' की कोटि में आते हैं और संसार-शरीर-भोग विषयक भाव 'अशुभ' की कोटि में तथापि परमार्थदृष्टि से तो अशुभ और शुभ दोनों ही प्रकार के भाव आत्मा के निजभाव या स्वभाव नहीं हैं, चूँकि ये दोनों ही विकारी भाव हैं, दोनों ही 'शूद्रपुत्र' हैं - दोनों ही कषाय की पर्याय हैं। अन्तर केवल इतना है कि एक तीव्रकषायरूप है, जबकि दूसरा मृदुकषायरूप। उदाहरण के लिये, माना कि किसी को बुखार है। अगर उसे एक सौ चार डिग्री बुखार है, तब भी बीमारी मौजूद है। अगर उसे सौ डिग्री बुखार है, तब भी बीमारी मौजूद है। बुखार की कमोबेशी की बनिस्बत भले ही दोनों में फर्क माना जाए, किन्तु बीमारी की मौजूदगी की अपेक्षा दोनों में कोई फर्क नहीं है। इसी प्रकार, चाहे अशुभ भाव हों या शुभ, यह स्पष्ट है कि राग-द्वेष की बीमारी अभी नहीं मिटी है। निष्कर्ष यह है कि शुभभाव - जो

कि हमारे विकारी भाव हैं - उन्हें धर्म न मानकर विकार ही मानना है, उसी तरह जैसे शरीर के स्तर पर हल्के बुखार को भी बीमारी माना जाता है, स्वास्थ्य नहीं। यदि विकार मानेंगे, तभी वे मिटेंगे। इसके विपरीत, शुभभावों को यदि धर्म मान लिया तो फिर उनमें मिटने का पुरुषार्थ सम्भव ही नहीं हो सकेगा।

नया संस्कार

दो आदमी किसी अखाड़े में कसरत करने के लिये गये। उनमें से एक ने तो शरीर पर तेल मालिश की हुई थी, जबकि दूसरे ने तेल आदि कोई चिकना पदार्थ नहीं लगा रखा था। दोनों ने अखाड़े की बहुत धूलियुक्त भूमि पर अनेक तरह से व्यायाम किया, मुद्गर, गद्गद, भाला, फरसा इत्यादि नाना प्रकार के हथियार चलाये तथा पेड़-पौधों आदि को उखाड़ फेंका। व्यायाम पूरा होने के बाद देखा गया कि जिस आदमी ने तैलमर्दन किया हुआ था उसको तो मिट्टी खूब चिप गई थी, जबकि दूसरे आदमी को - जिसने कोई स्निग्ध पदार्थ नहीं लगाया हुआ था - कुछ मिट्टी तो जरूर लगी, लेकिन चिपकी नहीं झाड़ने से उतर गई।

धूलिबन्ध अर्थात् मिट्टी चिपकने का कारण वास्तव में क्या इस पर विचार करते हैं। दोनों आदमियों ने समान रूप से व्यायामादिक सभी क्रियाएं की। मिट्टी चिपकने का कारण यदि अलग की बहुत धूलियुक्त भूमि होती तो धूलिबन्ध दोनों के होना चाहिए था; तरह-तरह का व्यायाम करने से यदि धूलिबन्ध हुआ तो दोनों के होना चाहिये था; नाना प्रकार के शस्त्रों को चलाने से यदि मिट्टी चिपकी तो भी दोनों के चिपकनी चाहिये थी; इत्यादि।

प्रकार, विश्लेषण से निश्चित हुआ कि उस आदमी के तैलमर्दन होना ही धूलिबन्ध का कारण है।

इसी प्रकार, 'कर्मवर्गणाओं' रूपी धूलि से भरे हुए इस लोकरूपी अखाड़े में स्थित और काय-वचन-मन की नाना चेष्टाओं में रत इस जीव के कर्मरूपी रज से बँधने का वास्तविक कारण राग रूपी चिकनाई है। जिस जीव के जितना राग, जितना मोह, जितना ममत्व है, उसी के अनुपात में उसके कर्मबन्ध होता है। जिसके जितनी अधिक आसक्ति है, उसके उतना ही गहरा कर्मबन्ध होता है — उस जाति का नया संस्कार चेतना पर पड़ जाता है; अथवा यह कि वह समान जाति के पूर्व संस्कार को और भी पुष्ट कर देता है।

कितने भव अवशिष्ट रहे?

विपुलाचल पर भगवान् महावीर का समवसरण आया हुआ था। राजगृही के निवासी भगवान् के दर्शनों के लिये जा रहे थे। मार्ग में पड़ने वाले एक उपवन में उन्होंने किन्हीं मुनिराज को पलाश के एक पेड़ के नीचे सुस्थिर मुद्रा में ध्यानस्थ बैठे देखा। समवसरण में पहुँचकर उन लोगों ने भगवान् के दर्शन किये, पूजा-स्तुति की, फिर वे विनयपूर्वक मनुष्यों के कक्ष में बैठ गए। गौतम गणधर को नमस्कार करके उन्होंने उत्सुकतावश पूछा — हे भगवन् ! रास्ते में पड़े उपवन में ध्यानस्थ अवस्था में स्थित जिन मुनिराज के हमने दर्शन किये थे, उनके कितने भव बाकी हैं? उत्कृष्ट अवाधिज्ञान के धारक गणधरदेव बोले — हे भव्यों ! जिस वृक्ष के नीचे वे मुनि बैठे हैं, उसके जितने पत्ते हैं, उतने भव उनके अवशिष्ट हैं। यह सुनकर वे लोग बहुत हर्षित हुए क्योंकि पलाश याने ढाक के जिस पेड़ के नीचे उन्होंने मुनिराज को बैठे देखा था उस पर तो सिर्फ तीन ही

पत्ते लगे हुए थे। वे तुरंत उन मुनिराज को यह खबर देने को चल पड़े। लगभग एक घड़ी का समय उन्हें मुनिराज के पास तक पहुँचने में लगा होगा। वहाँ पहुँचकर उन्होंने पाया कि वे मुनि तो अब इमली के पेड़ के नीचे बैठे हुए हैं। नमस्कार करके वे सब मुनिराज के समक्ष बैठ गए। उनकी कुछ खिन्न मुखमुद्रा देखकर मुनिराज ने पूछा - क्या बात है? उनमें से जो बुद्धिमान पुरुष था वह बोला - महाराज ! पहले आप बताने की कृपा करें कि इस पेड़ के नीचे आप कितनी देर से विराजमान हैं? मुनि बोले कि यही कोई एक मुहूर्त (याने दो घड़ी का काल) बीता होगा, अन्यत्र सामायिक करके इस पेड़ के नीचे आ बैठा हूँ। उन लोगों के उत्साह पर अब पानी पड़ चुका था, अतः वे धीरे-धीरे सारी बात कहने लगे - हमने आपको उस पलाश के वृक्ष के नीचे बैठे देखा था जिस पर कुछेक ही पत्ते हैं। कोई एक घड़ी पहले हमारे प्रश्न करने पर गणधरदेव ने बतलाया कि आपके उतने ही भव बाकी हैं जितने कि उस वृक्ष के पत्ते जिसके तले आप बैठे हैं। सुनकर हम बहुत हर्षित हुए, किन्तु वापस लौटकर पाया कि आप तो इमली के वृक्ष तले बैठे हैं जिसके कि अनगिनत पत्ते हैं। यह देखकर ही हम सबका उत्साह भंग हो गया है।

परन्तु आश्चर्य कि उन श्रावकों की बात सुनकर खेदखिन्न होने के बजाय मुनिराज तो प्रसन्न हो गए, कहने लगे - अनादिकाल से लेकर आज तक इस जीव ने जितने भव धारण किये हैं, वे अनन्त हैं। अब यदि इसने धर्म के यथार्थ स्वरूप को नहीं जाना तो भविष्यत्काल में भी इसे अनन्तों बार जन्म-मरण करने पड़ेंगे, जिनकी संख्या का कोई अंत ही नहीं है। इस पेड़ के पत्ते भले ही हमें अनगिनत लगें, किन्तु ये अनन्त तो नहीं हैं। अवधिज्ञानी के ज्ञान की अपेक्षा मेरे भवों की गिनती तो अब हो गई ! मेरे लिये इससे अधिक हर्ष की बात और क्या हो सकती है?

अब अपनी बात करते हैं। वस्तुतः यह जीव अनादिकाल से जन्म-मरण ही करता आ रहा है और अनंतकाल तक जन्म-मरण ही करता रहेगा। किसी पर्याय में यदि यह जीव तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का मौका पाकर सही-सम्यक् पुरुषार्थ करे और उसके फलस्वरूप सम्यग्दर्शन प्राप्त कर ले तो इसके अनंत संसार का परिभ्रमण कटकर ज्यादा-से-ज्यादा अर्धपुद्गलपरावर्तन मात्र काल रह जाता है। यद्यपि यह निश्चित है कि अर्धपुद्गलपरावर्तन काल में भी अनगिनत भव होते हैं, तथापि यह भी निश्चित है कि अब उसके संसार का अंत अवश्यम्भावी है। यदि सम्यग्दर्शन होने पर संयम धारण करके चारित्र्य के हेतु पुरुषार्थ करे तो साधना की तरतमता के अनुसार उत्कृष्टतया तीसरे भव में भी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। विशेष रूप से मनुष्यभव में तत्त्वज्ञान का स्वर्ण अवसर इस जीव को मिलता है, परन्तु विषय-भोगों की चाह में ही पड़ा रहकर यह उस मौके से कुछ भी लाभ नहीं उठा पाता - अपना अमूल्य जीवन विषय-भोगों रूपी कौड़ियों की आस में ही खो देता है। फलतः इसका जन्म-मरण का चक्र पूर्ववत् चालू रहता है।

चैतन्य का स्मरण प्रतिक्षण करो रे,
भव के अनन्त दुःखः को क्षण में हरो रे।
अक्षय अनन्त सौख्य निधान पाओ,
गाओ अरे नित इसी के गीत गाओ।

दोनों एक ही नाव के सवार

किसी धनिक आदमी की एक बूढ़ी माँ थी। उसने अपने बेटे से कहा — तुम हमेशा लाखों की बातें करते हो लेकिन मैंने आज तक कभी लाख रुपये इकट्ठे नहीं देखे। बेटा बोला — इसमें क्या खास बात है? उसने लाख रुपये लाकर उनका एक चबूतरा-सा बनाया और अपनी माँ को उस पर बैठा दिया। माँ को धन के उस ढेर पर बैठाकर धनिक ने जब उसकी इच्छा पूरी कर दी, तब उसके मन में विचार आया कि इन रुपयों को अब दान कर देना चाहिये। इसलिये उसने एक ब्राह्मण को बुलवाया और उसे वह धन दान करने लगा। परन्तु तभी उसके मन में अहम्भाव आया। वह ब्राह्मण से बोला — दातार तो तुमने बहुत-से देखे होंगे, लेकिन मुझ-सा दातार न देखा होगा जो लाख रुपयों का ढेर लगाकर दे रहा है। वह ब्राह्मण भी बड़ी त्यागवृत्ति का था, बड़ा विनम्र व्यक्ति था। कि उसका स्वाभिमान जागा, उसने अपनी जेब से एक रुपया निकाला और उस ढेर पर फेंककर बोला — तुमने भी मुझ जैसा ब्राह्मण नहीं देखा होगा जो लाख रुपये तो छोड़ता ही है, एक रुपया अपनी तरफ़ से और डाल देता है।

वह धनिक और वह ब्राह्मण, दोनों वस्तुतः एक ही कोटि के व्यक्ति हैं — दोनों में कुछ अंतर नहीं हैं। दोनों अहंकारी हैं — लौकिक भाषा में भी पहले को तो 'अहंकारी' ही कहते हैं, जबकि दूसरे को 'स्वाभिमानी'। परमार्थतः दोनों में कोई अंतर नहीं हैं। पहले को धन-सम्पत्ति आदि के परिग्रहण का अहंकार है तो दूसरे को त्याग का अहंकार है। अहम् का रस केवल भोगों और परिग्रह में ही नहीं आता, त्याग में भी आता है। अतः ग्रहण को त्याग में बदलने मात्र से हमारा कार्य नहीं बनेगा — असल में रूपान्तरण तो हमें स्वयं

का करना है, अपने अंतरंग का करना है। रूपान्तरित उसको करना है जो हर चीज़ को अहंकार में बदल देता है, वासना में बदल देता है, बेहोशी में बदल देता है। और, यह तभी संभव है जब हम अपने को पहचानें, अपने वास्तविक स्वरूप का निर्णय करें। तब हम संसार में रहते हुए भी संसार हमारे भीतर नहीं रहेगा। यह जो 'पर' के ग्रहण और त्याग का अहंकार है, यही संसार है।

आत्मा सदा उपवासी है

यमुना के पार एक साधु आए। बरसात के दिन थे, यमुना में पानी चढ़ा हुआ था। नावें तक नहीं चल रही थीं। कृष्ण ने रुक्मिणी को कहा कि जाकर साधु को भोजन करा आओ। उसने पूछा — कैसे जाना होगा, यमुना में तो पानी चढ़ा हुआ है? कृष्ण ने कहा — तुम जाकर यमुना से कहना कि यदि मुनि सदा के उपवासे हैं तो वह राह दे दे। रुक्मिणी ने सहर्ष भोजनादि हेतु सब व्यवस्था की और फिर कृष्ण के निर्देशानुसार जाकर यमुना से कहा कि यदि मुनि सदा के उपवासे हैं तो मार्ग दे दो।

कहानी कहती है कि उक्त प्रकार से कहने पर यमुना ने राह दे दी। रुक्मिणी ने विधिपूर्वक साधु को भोजन कराया। लौटने के समय, यह सोचकर वह घबराई कि अब वापस कैसे जाना होगा, अब तो साधु ने भोजन कर लिया है, अब नदी रास्ता भला क्यों देगी। रुक्मिणी को चिन्तित देख साधु ने पूछा — क्या बात है? रुक्मिणी ने उन्हें सारी बात बताई कि आते समय हमने इस सूत्र का उपयोग किया था और कहने लगी — अब वह व्यर्थ हो गया, अब वापस कैसे जाएं? साधु बोले — तुम पुनः उसी सूत्र का उपयोग करो, नदी राह दे देगी। मेरे भोजन करने या न करने से मेरे उपवासीपने में कोई

अन्तर नहीं पड़ता। रुक्मिणी क्या करती, उसके पास और कोई उपाय भी तो न था, उसने नदी के पास जाकर डरते-डरते पुनः वैसे ही अनुनय की, और वह आश्चर्यचकित रह गई जब नदी ने फिर से राह दे दी।

कहानी बताती है कि आत्मा सदा की उपवासी है, उसको भोजन नहीं चाहिये; वह मरणधर्मा नहीं है, वह तो अमृतरूप है — सदा से है, और सदा रहेगी। जिसको भोजन की ज़रूरत है वह शरीर है; भोजन न मिलने पर वह मरने लगेगा। उपवास करने वाला व्यक्ति पहले यह जानेगा कि भूख शरीर को है, आत्मा को नहीं। वह आत्मा की तृप्ति के लिये भोजन नहीं करता। वह शरीर और आत्मा, दोनों के भिन्न-भिन्न धर्मों को भिन्न-भिन्न ही जानेगा। आत्मा के धर्म को इस प्रकार जानने वाले की आत्मा कभी भोजन नहीं करती, वह तो उपवासी ही है। भोजन भी है, खाने वाला भी है, परन्तु वह तो दोनों का मात्र द्रष्टा है; और, द्रष्टा भोजन नहीं करता, वह तो सदा उपवासा ही है।

अब अपनी बात करते हैं। क्या हमारा जीवन भी ऐसा हो सकता है? निस्सन्देह हो सकता है यदि हमारी दृष्टि न भोजन पर हो, न शरीर पर हो, न खाने की क्रिया पर हो, अपितु मात्र एक ज्ञाता-द्रष्टा स्वभावी चैतन्य पर हो।

1. समय को काटने वालो, ध्यान रखो, तुम समय को नहीं, समय तुम्हें काट रहा है।
2. भूल की पुनरावृत्ति न होने देना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है।

स्वर्ग में नारद

एक बार नारद स्वर्ग में गया। उसने वहां देखा कि कृष्ण अकेले बैठे हैं और कोई नहीं हैं। नारद ने कहा कि हे भगवान ! मर्त्यलोक में तो रहने को भी जगह नहीं है, झुग्गी झोपड़ियों में जगह नहीं मिलती और आप स्वर्ग में अकेले बैठे हैं। भगवान ने कहा कि यहाँ पर कोई आने को भी तैयार नहीं हैं; अगर आपको कोई यहाँ आने के लिये मिल जाये तो लेते आइये। चाहे कितने ही व्यक्ति क्यों न हो।

नारद बहुत खुश हुआ और खुशी-खुशी मर्त्यलोक में आया और बनारस में पहुँचा। वहाँ सवेरे-सवेरे लोग गंगा स्नान करने जा रहे थे। भगवान का नाम लेते जाते थे। नारद एक आदमी के पास पहुँचा और धीरे से बोला कि आप स्वर्ग चलोगे ? वह आदमी गुस्से में आकर बोला कि स्वर्ग तू अपने बाप को भेज, मेरे तो बाल बच्चें हैं। नारद और कई लोगों के, साधु सन्तों के भी पास गया, परन्तु नारद की सभी जगह पिटाई हुई। कोई स्वर्ग जाने को तैयार नहीं था। अन्त में एक बूढ़े आदमी से नारद ने कहा आपकी उम्र तो बहुत हो गई है, स्वर्ग चलेंगे ? उसने कहा कि भाई दो साल बाद आना अभी मैंने अपने लड़कों का विवाह किया है, उनके पुत्र आदि हो जायें तो फिर चलूँगा। नारद ने सोचा चलो एक आदमी तो मिला। दो साल बाद नारद उसके पास पहुँचा तो देखा कि उससे चलाफिरा नहीं जाता। लड़के खाने-पीने कि भी परवाह नहीं करते। नारद ने कहा अब चलेंगे ? उसने कहा कि अभी पौते छोटे हैं। सँभाल रखता हूँ, कुछ बड़े हो जायें तो चलूँगा। कुछ दिन बाद नारद आया तो पता लगा कि वह आदमी मर गया है, और मरकर अपने घर के बाहर कुत्ता हुआ है। नारद उस कुत्ते के पास पहुँचा और कहा कि अब क्या विचार है, उसने कहा कि घर के बाहर बैठा पहरा दे रहा हूँ, बच्चें अभी छोटे हैं। बड़ा लड़का आया और उसने एक लाठी मारी। वह कुत्ता हाय-हाय करने लगा। नारद ने कहा यह हालत है, अब भी नहीं चलते। उसने कहा कि लड़का मुझे अपना बाप नहीं मानता, परन्तु मैं तो उसको अपना बेटा मानता ही हूँ। मुझे तो उनकी सँभाल रखनी है।

अब अपनी बात हैं। क्या यह हालत हमारी नहीं है ! बेईमानी अन्याय करके अपना पेट काटकर बच्चों के लिये पैसा इक्कटा करते हैं। जब वह बड़े हो जाते हैं,

तब वह खाने को भी नहीं पूछते। जानते हैं कि मरने के बाद इनका और हमारी चेतना का कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा, फिर भी अनेक उपाय करके अपने लड़कों का ही नहीं उनके लड़कों बच्चों तक के लिये इन्तजाम करके जाने कि चेष्टा करते हैं। जो समय आत्मकल्याण में लगाना था। वह उनकी देख-रेख में लगाते हैं। चौबिस घण्टें उनकी चिन्ता और विकल्प करते-करते पर्याय पूरी कर देते हैं। और अपने लिये अनन्त संसार को तैयार कर लेते हैं।

दूसरे का नाम मिटाकर अपना लिखा।

भरत जिसके नाम पर भारतवर्ष नाम पड़ा, चक्रवर्ती सम्राट था अर्थात् सारी पृथ्वी का मालिक था, जो चक्रवर्ती बनता था, उसे एक पर्वत पर अपना नाम लिखकर आना होता था। यह बहुत बड़ा सौभाग्य था जो लाखों वर्षों के बाद किसी एक को मिलता था। यह पर्वत कहा जाता है, कि संसार का सबसे बड़ा पर्वत था। भरत नाम लिखने के लिये वहाँ पहुँचा। नाम खोदने का सामान साथ लेकर गया, परन्तु वहाँ जाकर देखा कि इतने बड़े महान पर्वत पर एक तिल मात्र की जगह खाली नहीं थी। समूचा पहाड़ और उसकी उप चोटियों पर भी जगह तक नहीं बची थी। उसने सोचा था, कि मेरे जैसा लाखों वर्षों में कोई एक होता है। उसको मालूम नहीं था, कि उस जैसे भी इस संसार में अनन्तों हो गये हैं, और मेरे को अपना नाम खोदने के लिये दूसरे का नाम मिटाकर जगह करनी होगी। भरत ने कहा कि मैं दूसरे का नाम मिटाकर अपना नाम लिखूँगा, और कोई दूसरा आयेगा वह मेरा नाम मिटाकर अपना नाम लिखेगा। यह बात व्यर्थ हो गयी, मैं भूल में था। जब नाम मिटाकर नाम लिखना पड़ता है, तब तो पागलपन है।

अब अपनी बात हैं। लोग मंदिरों पर, पत्थरों पर नाम लिखवाते हैं। स्मारक बनाते हैं। नाम हैं बाहर के जगत को दिखाने वाला और मैं हूँ, भीतर की तरफ से दिखाने वाला। मैं और नाम दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। आत्मा का तो कोई नाम नहीं है। कोई नाम लेकर यहाँ आया नहीं है। यहाँ का नाम यही छोड़ जावेगा। वह साथ जा नहीं सकता। यहाँ अनन्तों जीव पैदा हो गये और मर गये, पर किसी का नाम निशान रहा नहीं। तू भी अपना नाम लिखाकर अपने अहम को पुष्ट कर लें पर वह

नाम कुछ वर्ष बाद तेरे परिवार वाले भी भूल जायेगे। तू तो रहेगा ही नहीं। कहीं-कहीं तीर्थों में एक-एक सीढ़ी पर नाम लिखा हुआ होता है। लोग जूता तेरे नाम पर रखकर ऊपर जाते हैं। तेरे जीते जी ही तो फिर मरने के बाद की क्या सोचता है ? दान मांगने वाले भी दान का पैसा निकलवाने की तरकीब जानते हैं। वे दान लेते समय यह आश्वासन देते हैं, कि आपका, आपके बाप का, आपकी पत्नी का, आपके पुत्रों का सबका नाम इस जगह पर लिखा जायेगा। तब दान की रकम बढ़ जाती है। यह है अहम्। उसका फल है, अनन्त जन्म-मरण। यह दान लेने वाले ने नहीं बताया।

अपने को न भूलना

एक बार वर्षी जी नालन्दा देखने को गये। वहाँ पुराने जमाने का विश्व विद्यालय रहा हुआ है। अनेक प्राचीन चीजें वहाँ उपलब्ध हुई हैं। उनको दिखाने के लिये एक गाइड मेल गया। वह साथ-साथ जाता था, और हर एक चीज के बारे में उसका पूरा इतिहास बताता था, यह क्या चीज है, कब बनी थी, क्या काम आती थी, पूरी बातें समझाता जाता था। सब बातें बताने के बाद वह जो उंगली ऊपर करता था, उसी उंगली को अपनी ओर कर देता था। इस प्रकार सब जगह घूमाकर सभी चीजों की जानकारी देकर वह उन्हें वापस लाया, परन्तु अपनी तरफ उंगली करना नहीं भूलता था। यानी उसका मतलब था, कि आप मेरे को न भूल जाये। मेरे को दिखाने का इनाम देना है।

अब अपनी बात है, कि संसार में सब जगह जावें, सब चीजों को देखें, सबके बारे में जानकारी भी करें, परन्तु अपने को न भूलें, तो यह दुनिया अथवा दुनिया की जानकारी हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकेगी। वह संसार में तो है, परन्तु संसार उसके भीतर नहीं है।

छप्पर पर ऊँट

एक धनिक व्यक्ति अपने घर में सो रहा था। रात्रि बारह बजे का समय था। बाहर में गाय, भैंसों को बांधने का छप्पर पड़ा हुआ था। अचानक उसकी नींद खुल गयी। उसने देखा छप्पर पर कोई घूम रहा है। उसने आवाज लगाई कि छप्पर पर कौन है। ऊपर से आवाज आई कि मेरा ऊँट खो गया, उसे छप्पर पर ढूँढ रहा हूँ। उस धनिक व्यक्ति

ने कहा कि बड़े आश्चर्य कि बात हैं, कि कहीं खोया हुआ ऊँट भी छप्पर पर मिल सकता है। ऐसा लगता लगता है, कि तुम बहुत बड़ें मूर्ख हों। उधर से आवाज आती है कि तुम से ज्यादा तो मूर्ख नहीं हूँ। कदाचित् ऊँट तो छप्पर पर मिल भी जाये, न तो छप्पर के नीचे मिल जायेगा परन्तु पाँच इन्द्रियों के विषय भोगों में धन, स्त्री, आदि मकान महलों में जहाँ तुम सुख खोज रहे हो, वहाँ तो वह कभी भी नहीं मिल सकता। अपनी मूर्खता क्यों नहीं देखते ?

अब अपनी बात हैं, जन्म-जन्म में यह जीव हर पर्याय में सुख खोज रहा है। सवेरे से शाम तक इसी के पीछे लगा हुआ है। पूरा जीवन इसी की खोज में बीता जाता है। और अन्त में मर जाता है। ऐसी दशा धनिक, गरीब सभी की है। जितना इच्छा की पूर्ति की चेष्टा करता है; उतनी इच्छा और ज्यादा उत्पन्न होती जाती है। एही सही रास्ता है कि ऐसा उपाय करना कि इच्छा उत्पन्न ही न हो जो अपने को चेतन रूप अनुभव करने ही से हो सकता है। दूसरा सही रास्ता नहीं है, परन्तु इसको यो सरल मालूम देता है, इसलिये सब प्रकार से इच्छा की पूर्ति की चेष्टा करता है; अनेक प्रकार की इच्छाओं में कोई एक आध पूरी होती है, उसकी जगह सैंकड़ों नई उत्पन्न हो जाती हैं। और इसी प्रकार से परिग्रह की दौड़ में जीवन बीत जाता है, यह तो दाद की खाज है। जितनी खुजाओगे उतनी ही जलन बढ़ेगी, परन्तु खुजाय बिना नहीं रह जाता। यह जिसको हमने सुख कहाँ है, वह तो दाद की खाज है। सुख तो वहाँ होता है, जहाँ दाद ही न रहे। इस दाद के मेटने का उपाय हम नहीं कर सकते। इसका उपाय तो एक ही है वह अपने को अपनी आत्मा को सबसे अलग देखना है।

धर्म का शिखर या अधर्म का शिखर

एक सेठ ने अपने विवाह के पच्चीस साल पूरा होने पर एक पार्टी दी। जिसमें सभी बड़े-बड़े व्यापारी और प्रतिष्ठित लोग आये थे। इसलिये उस सेठ की खुशी का ठिकाना नहीं था। सभी सेठजी को मुबारकबाद दे रहे थे, और उनकी प्रशंसा चल रही थी। वेटर वैगरहा अपने काम में लगे थे। एक वेटर के हाथ से सेठजी के पैर पर एक गला सामान से भरी प्लेट गिर गई, परन्तु सेठजी ने बहुत शान्ति रखी। और वेटर को कुछ भी भला बुरा नहीं कहा। बल्कि कहा कि मैं तुमको माफ करता हूँ, कपड़े गन्दे हो गये

मिल वह में बदल लेता हूँ। सारे मेहमान देखते रह गये, उनकी आँखों में सेठजी के लिये आश्चर्य प्रशन्सा भरी हुई थी और सेठजी भी अपने आप को महान अनुभव कर रहे थे। अब नही सेठजी पृथ्वी पर नहीं थे, आकाश को छू रहे थे।

पुनः पार्टी खत्म हो गई। सेठजी अपने कमरों में आये और उस वेटर को बुलाकर उसे जो कुछ गाली गलौच देना था, वह दिया और उसके वेतन में से कपड़ें धुलाने के लिये पैसे काट लिये।

अब अपनी बात हैं। जहाँ अपना 'मैं' पुष्ट होता है। वहाँ यह आदमी धार्मिक बन जाता है, दातार बन जाता है। आज धर्मात्मापना मात्र अपने अहंकार को पुष्ट करने के लिये है, हम एक पैसे में दो मजा लेते हैं, एक तरफ धर्मात्मा कहलाते हैं, और दूसरी तरफ अपने अहंकार को पुष्ट करते हैं। अगर हम अपने भीतर झाँककर देखें तो लगेगा कि हम जो कुछ करते हैं, वह मात्र अपने अहंकार की पुष्टि के लिये ही करते हैं, चाहे वह धार्मिक कार्य हो या सामाजिक कार्य हों, देश सेवा का कार्य हो अथवा गाढ़ से पीड़ित व्यक्तियों की व्यवस्था हों। एक फोटोग्राफर साथ रहता है, जिसका कार्य समय-समय पर भीड़ के साथ उनका फोटों लेना। पूजा कर रहे हैं, दृष्टि भगवान पर नहीं फोटोग्राफर पर हैं। अगर इसको धार्मिक कार्य कह रहे हैं, तो विचारणीय है, कि अधार्मिक कार्य कौन सा हैं ? धर्म का शिखर भी अहंकार हैं, तो अधर्म का शिखर क्या हैं ?

भगवान की वाणी

एक साधारण व्यक्ति था। वह प्राकृत से हिन्दी में अनुवाद करना चाहता था। इसके लिये उसने बड़ी मेहनत करके घर-घर घूमकर दस हजार रुपये इकट्ठा किया। अब अनुवाद हेतु पंडित को लाना था। पर अचानक देश में अकाल पड़ गया, और उस व्यक्ति ने औरों के मना करने पर भी समूचा पैसा अकालग्रस्त लोगों की जरूरत की पूर्ति लगा दिया।

इसके बाद उसने पुनः मेहनत करके पैसा इकट्ठा किया बहुत समय लगा। फिर अनुवाद छपवाने की चेष्टा की, परन्तु उस समय बाढ़ आ गई, और उसने वह पैसा बाढ़ पीड़ित लोगों को दे दिया।

तीसरी बार उसने फिर बड़ी मेहनत करके रुपया इकट्ठा किया और अब ग्रन्थ का अनुवाद करवा कर छपवा दिया। परन्तु उसने उस पर लिखवाया कि यह तीसरा संस्करण है। लोगों ने पूछा कि इसके पहले के दो संस्करण कहाँ हैं ? उसने कहा कि पहला संस्करण जब अकाल पड़ा तब निकाला था पर वह भगवान की वाणी की तरह निरक्षरी था जो समझ सकते थे, वह ही समझ सके। दूसरा संस्करण जब बाढ़ आई तब निकाला था। वह भी निरक्षरी वाणी थी। बात तो उसी ग्रन्थ की थी परन्तु अक्षर रूप नहीं थी। जो समझदार थे, वे ही समझ सकें। यह तीसरा संस्करण है सो साक्षर हैं, और इसको कोई भी पढ़ सकता है। पहले वाले दो वहीं पढ़ सकते हैं, जिनके पास ज्ञान नेत्र हैं।

अब अपनी बात हैं। एक आदमी वाणी का सार अपनी जीवन में उतारता है। जीवन को बदली करता है, वह अपने जीवन में ही उस तत्व को निरन्तर देखता है। एक व्यक्ति ग्रन्थों में तत्व खोजता है। वहाँ तत्व के प्रति जानकारी ही मिलेगी। तत्व तो अपने जीवन में ही देखना होगा, जो ग्रन्थ के तत्व को ही तत्व समझता है, वह पंडित तो हो सकता है। परन्तु तत्वज्ञानी नहीं हो सकता है।

यहाँ दो को जगह नहीं है

एक जंगल में, एक झोपड़ी में एक साधू रहता था। वह एक छोटी सी झोपड़ी थी। एक दिन कुछ यात्री उधर आये। वे झोपड़ी में जल मांगने आये। उनमें से एक ने पूछा कि आप कैसे साधू हैं ? आप की झोपड़ी में तो भगवान की मूर्ती भी नहीं है। उस साधू ने कहा यह झोपड़ी बहुत छोटी है। यहाँ दो नहीं समा सकते। दूसरे दिन वह आदमी एक भगवान की मूर्ती लेकर भेंट करने को आया। साधु ने कहाँ मुझे भगवान की मूर्ती की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यहाँ पर (अपने हृदय की तरफ इशारा करते हुए) मात्र अभी वे ही रहते हैं। मैं तो रहा ही नहीं। मैं तो मिट गया हूँ।

अब अपनी बात हैं। वास्तव में 'मैं' और परमात्मा दोनों साथ नहीं रहते जहाँ 'मैं' है, वहाँ परमात्मा नहीं हो सकता, और जहाँ परमात्मा है, वहाँ 'मैं' नहीं होता। मंदिर में भी जावोगे तो 'मैं' छोड़कर जाने वाले को ही परमात्मा का दर्शन हो सकता है। किसी ने कहा है, 'प्रेम गली अति साकरी, तामें दो न समाय', जिसका 'मैं' जि-

हैं उसका संसार जिन्दा हैं। यहीं कारण हैं कि वर्षों पूजा-पाठ करने पर भी हम वहीं के वहीं रह जाते हैं। हमने जो कुछ धार्मिक कार्य, व्रत दान किया वह विचार करके देखे तो पायेगे कि अपने मैं की पूर्ति करने के लिये करते हैं। हमारी 'मैं' दिन पर दिन मोटा होता जाता है, और हम भगवान से बहुत दूर होते जाते हैं।

अपने में देखें

एक राजधानी में एक फकीर भीख मांगता था। वह एक ही जगह बैठकर तीस वर्ष से भीख मांगता था। एक रोज वह मर गया। उसके चारों तरफ की जमीन गन्दी हो गई थी, इसलिये जब लोग उसे लेकर जाने लगे तो जहां वह बैठता था, वहाँ चारों तरफ की जमीन खोदी गई। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। हजारों आदमी वहां इकट्ठा हो गये। वहां जमीन के नीचे धन गड़ा हुआ था, बहुत खजाने भरे हुए थे। उस भिखारी ने सब जगह हाथ फैलाया, परन्तु अपने नीचे खोदकर नहीं देखा। लोगों ने कहा कि भिखारी पागल था।

अब अपनी बात हैं, कि हम भी धन के पीछे दौड़ लगा रहें हैं। जैसे रेस में घोड़े दौड़ते हैं और हम सोचते हैं, कि मेरा घोड़ा पीछे न रह जायें, वैसे धन के, मान के प्यासे चौबिस घण्टे दौड़ रहें हैं, कि मैं सबसे आगे निकल जाऊँ परन्तु अपने भीतर झांक कर देखें तो तीन लोक का नाथ अपना चेतन्य प्रभु अपने में ही विराजमान हैं। कहीं बाहर में खोजने की जरूरत ही नहीं है। अनन्त काल बाहर में, मन्दिर में, तीर्थों में, सब जगह खोजा, परन्तु अपने अन्तर में झांक कर देख लें तो कहीं खोजना नहीं पड़ता, क्योंकि जहां था वहां हमने खोजा ही नहीं।

त्यागी कौन ?

बंगाल में एक योगी हुए। एक धनिक आदमी उनके पास आया, और कहने लगा आप महान त्यागी हैं। योगी हंसने लगे, और अपने शिष्यों से बोले कि यह आदमी आप ही महान त्यागी हैं। और मुझे त्यागी बतला रहा है। वह आदमी चौंका, क्योंकि उसने तो प्रशन्सा की थी। और शिष्य भी अचम्भे में पड़ गये, क्योंकि योगी वास्तव में त्यागी थे। शिष्यों ने कहा कि हम लोग समझते हैं, कि वह आदमी ठीक ही कह रहा है। योगी

ने कहा कि इस तरफ से समझों कि हीरा पड़ा हैं। और पत्थर पड़ा हैं, जो आदमी हीरा छोड़ दे वह त्यागी हैं कि नहीं ? मैं तो हीरा पकड़ें हुए हूँ।

अब अपनी बात हैं। कि संसारी सबसे बड़ा त्यागी हैं। उसने सामाजिक सुख को छोड़ दिया और कूड़े-कचरों को ग्रहण कर रखा हैं। परन्तु संसारी साधुओं को त्यागी समझते हैं। कहते हैं, कि उन्होंने सब छोड़ दिया। कुछ भोगा भी नहीं। सम्मान भी करते हैं। और भीतर मन में दया भी रखते हैं। उनको पता नहीं कि साधु को महाभोग उपलब्ध होता हैं। भगवान महावीर तुच्छ भोग का त्याग कर अनन्त भोग को प्राप्त हो गये। अनन्त काल तक अपने स्वभाव का निरन्तर भोग करते रहेंगे। उन जैसे भोगी कौन होगा।

अहंकार बनाम परोपकार

एक राजा था। वह बूढ़ा हो गया। उसके तीन पुत्र थे। वह सोच रहा था कि राज्य किसको दिया जायें। उनकी परीक्षा करने के लिये उसने अपने लड़कों को कहा कि पिछले साल में तुमने जो सबसे अच्छा काम किया है, वह मुझे तुम अलग-अलग बताओं। बड़े लड़के ने कहा कि गाँव का सबसे बड़ा धनपति यात्रा को गया उसने करोड़ों रुपये के हीरे-जवाहरात मुझे बिना गिने दे दिये। अगर मैं चाहता तो पूरे खा जाता, कुछ लिखा-पढ़ी तो थी ही नहीं परन्तु मैंने उसके आने पर सब सामान वैसा का वैसा लौटा दिया। पिता ने कहा कि अगर तू कुछ बचा लेता तो तेरे भीतर जीवन भर के लिये ग्लानि-पश्चताप का भाव भरा रहता। वह भाव तेरे जीवन को दुखी बना देता। मरने के समय तू उस बात को याद करके कि मैंने एक ऐसे आदमी के साथ विश्वासघात किया है, जिसने मेरा इतना बड़ा विश्वास किया था। सुख से मर भी नहीं सकता था। ऐसा करके तूने उस पर कोई उपकार नहीं किया, परन्तु तूने अपनी ही दुख से रक्षा की है। यह परोपकार नहीं है।

दूसरे बेटे ने अपनी बात कही, कि शाम के समय एक आदमी झील में डूब रहा था, वहाँ कोई नहीं था। मैं उसकी चिल्लाहट पर ध्यान न देकर चला जाता, परन्तु मैंने झील में कूदकर उसको निकाला और उसकी जान बचाई।

मी पिता ने कहाँ तुमने अच्छा किया, परन्तु अगर तुम उसे नहीं बचाते तो उस आदमी की मृत्यु सदा तुम्हारा पीछा करती, उसका प्रेत सदा-सदा तुम्हारा पीछा करता ख के तुम मनुष्य नहीं हो। तुम पशु से भी गये गुजरे हो। उस ग्लानी से बचने के लिये गी तुमने अपनी जान खतरे में डाली। परन्तु परोपकार तुमने किया इस भ्रान्ति में मत ते पड़ना।

ग तीसरे बेटे ने कहना शुरू किया कि मैं जंगल में से गुजर रहा था। एक पहाड़ हो की कगार पर एक आदमी सो रहा था। अगर वह करवट ले तो पहाड़ से तलहटी में गी गेर जाये। मैं बिना आहट किये उसके पास गया तो देखा वह मेरा जानी दुश्मन है, परन्तु फिर भी मैंने आहिस्ते से उसके पास जाकर उसको किनारे से हटाया। अब वह गाँव में कह रहा हैं, कि मेरे को जीने तो नहीं देता, परन्तु मैं मरना चाहता था मुझे मरने भी नहीं देता। कैसे ? पिता ने कहाँ कि उन दोनों से तुम्हारा काम अच्छा रहा, परन्तु यह भी परोपकार नहीं हैं क्योंकि जब तुम बोलते हो तो तुम्हारा सीना फूल जाता य हैं। आँखों में चमक आ जाती हैं तुम समझते हो कि मैंने बड़ा कार्य किया। जिस कृत्य के से अहंकार निर्मित होता हैं, वह परोपकार नहीं हैं। तूने बड़े सूक्ष्म मार्ग से अहंकार ग को भर लिया।

ने अब अपनी बात हैं, जिस कृत्य से हम अपने में अहंकार भर लेते हैं, वह ग धार्मिक कार्य नहीं हैं। अगर सेवा से, दान से हमारा अहंकार ही भरता हैं, तो वह दान ग भी शोषण हैं। आत्मज्ञान बिना अहंकार नहीं जा सकता, अतः उसके पहले कोई न परोपकार नहीं हो सकता।

जो पढ़ा हैं उसकी फीस ज्यादा

ग एक गुरुजी के पास एक आदमी दो बच्चों को लेकर गया। एक कुछ पढ़ा-लिखा था, दूसरा पूर्ण रुप से नया था। गुरुजी ने दोनों को देखकर कहाँ कि जो पढ़ा-लिखा हैं, उसकी फीस पाँच रुपये महीना लगेगी और जो नया हैं, उसकी फीस तीन रुपये महीना लगेगी। उस आदमी ने पूछा कि यह उल्टी बात कैसे ? पढ़े हुए की फीस कम लगनी चाहिये, क्योंकि उसमें मेहनत कम करनी होगी। गुरुजी ने कहा कि उसने पहले जो गलत पढ़ा हैं, पहले उसको मिटाना पड़ेगा, फिर नये सिरे से पढ़ाना होगा। इसलिये उसकी फीस ज्यादा हैं।

अब अपनी बात हैं, कि जो ज्ञान के घमण्ड में लगे हैं, और यह समझते हैं कि हम समझदार हैं, उनकी उल्टी पढ़ाई को मिटाकर नया तत्वज्ञान कराना होता है उसमें मेहनत ज्यादा है, परन्तु जो पहले से ही अपने को अज्ञानी मानता है, उसके पढ़ाने में तत्वज्ञान कराना मुश्किल नहीं है। उसको जो समझाया जायेगा वह वैसा ही समझता जायेगा। अतः अज्ञानी को समझाना सरल है, परन्तु जो ज्ञानी बने हुए हैं उनको समझाना मुश्किल है।

भगवान अकेला

एक आदमी ने रात में स्वप्न देखा कि वह स्वर्ग में चला गया है और वहां भगवान को खोज रहा है। उसने देखा कि रास्ते में बड़ी भीड़भाड़ है, लाखों आदमी खड़े हैं उसने उनसे पूछा-आज क्या है ? तो बताया कि आज एक चमत्कारी बाबा की सवारी आ रही है। बड़ी शान से उनकी सवारी आई, उनके साथ हजारों आदमी चल रहे थे कुछ देर बाद वह आगे बढ़ा। वहां पर भी भीड़ इकट्ठी हो रही थी। उसने पूछा-यह कौन आने वाला है ? तो बताया कि कोई नये भगवान बने हुए आने वाले है। कुछ देर बाद उनकी सवारी आई। हजारों विदेशी और भारतवासी साथ थे। फिर वह आगे बढ़ा तो फिर भीड़ मिली, तो मालूम हुआ कि किसी सती की सवारी आ रही है। उसने साथ भी बहुत भीड़ थी।

वह आदमी हैरान हो गया, परन्तु भगवान उसको नहीं मिले। अन्त में बहुत देर बाद एक आदमी अकेला आ रहा था। उसने उससे पूछा कि क्या आप भगवान हैं, क्योंकि आप अकेले हैं। आपके साथ कोई नहीं। भगवान ने कहा-सारे लोग उनकी के बीच बँट गये, कोई बचा ही नहीं, जो मेरे साथ हो सके।

उस आदमी की स्वप्न देखते-देखते आँख खुल गयी। उसने किसी को बताया कि आज मैंने एक झूठा स्वप्न देखा। जब उसको स्वप्न बताया तो उसने कहा यह स्वप्न सत्य है। क्योंकि भगवान तो वीतरागी हैं, किसी को कुछ देते-लेते नहीं। आज की दुनिया वहीं जाती है, जहां कुछ मिलें। अतः जो नितान्त अकेला होना चाहता है, वही उस नितान्त एक को खोजता है।

अब अपनी बात हैं, कि संसार में सभी धर्म और धर्मात्मा कहलाने वालों की दुनिया भय और लोभ पर चलती हैं। किसी को वीतरागी की जरूरत नहीं है। अगर आज भगवान महावीर होते तो उनकी वाणी सुनने वाला मिलना मुश्किल था। आज ऐसे निष्परिग्रही साधु के पास कोई नहीं जाता। जहां जन्तर-मन्तर मिलता हैं, जहां पैसा वाला बनने की जड़ी-बूटी हैं, जहां राज्य में कोई काम करवा सकता हैं, वहीं भीड़ लगती हैं। जहां जाने वाले के अहंकार की पुष्टि होती हैं, जहां जाने पर उनका नाम लेकर बुलाया जाता हैं, वहीं लोग जाते हैं। जहां रोग का इलाज बताते हैं, तेजी-मन्दी बताई जाती हैं, वहीं लोग जाते हैं। इस जमाने में किसी को भगवान की जरूरत नहीं हैं। उस मन्दिर में आदमी जायेगा, जहां कोई कहने वाला मिले, कि सेठ साहब, आप आ गये। क्योंकि वीतरागी के पास आत्म कल्याण के अलावा और कोई बात ही नहीं हैं, अतः वहां वह अकेला ही होता हैं।

पेंड़ की डाल टूट पड़ी

एक जंगल में जोंर से हवा चली और एक पेड़ की डाल टूट पड़ी। उससे एक व्यक्ति के सिर पर चोट आई। कुछ दिन बाद एक दूसरा व्यक्ति पहले वाले व्यक्ति को एक लकड़ी से मारकर भागा। वह व्यक्ति उसकी लाठी लेकर उसके पीछे भागा, कि ले अपनी लाठी तो लेता जा। जो लोंग देखने वाले थे, उन्होंने कहा कि आपने तो हद कर ली। उस मारने वाले के पीछे उसकी लाठी देने को जा रहें हैं। उसने कहा कि कुछ रोज पहले एक पेंड़ से डाल टूटकर मेरे माथे पर लगी थी, तब किसका दोष था, तब तो उस पेंड़ को काटने को नहीं दौड़े। आज इस आदमी ने मारा-इन दोनों में क्या अन्तर हैं ? अगर चोट लगनी हैं, तो वह लगेगी ही।

अब अपनी बात हैं - पाप का उदय आयेगा, तब किसी न किसी के मार्फत चोट लगेगी, नुकसान होगा। हम अगर जिसके मार्फत पाप का उदय आये, उसको देखते हैं, तो उस व्यक्ति विशेष से द्वेष होता हैं और अपना पाप का उदय देखें तो किसी से द्वेष बुद्धि करने की बात नहीं रहती। काम तो हुआ हैं, वह किसके मार्फत हुआ यह गौण हैं, और पाप-पुन्य का उदय मुख्य हैं।

भेद ज्ञान

एक फकीर किसी गाँव में ठहरे हुए थे। लोग उनके दर्शन करने आते थे और अपनी शंकाओं का समाधान कराते थे। एक आदमी आया उसने पूछा कि यह कैसे सम्भव है, कि शरीर में दर्द हो अथवा चोंट लगे, कोई उसको काटें तब भी पीड़ा न हो। शरीर को काटने से तो पीड़ा होगी ही, फिर शरीर आत्मा को अलग-अलग देखने से भी क्या सिद्धी हुई। फकीर ने कहा यहाँ दो नारियल पड़े हुए हैं। एक कच्चा है, उसमें पानी है, उसको तोड़कर उसकी गिरी अलग करना चाहें तो नहीं होगी, क्यों कि वह गिरी काठ के साथ जुड़ी हुई है। यह दूसरा नारियल है। इसका पानी सूख गया है, इसकी गिरी काठ से अलग हो गई है। इसका काठ तोड़ने पर भी गिरी को कोई हानि नहीं होगी। नारियल का खोल और गिरी अलग-अलग हो गई है। फकीर ने कहा यही गजब है - कुछ लोग शरीर की खोल से जुड़े रहते हैं। शरीर की चोंट के साथ उनको भी चोंट पहुँचती है, जो अपने को शरीर की खोल से थोड़ा फासला कर लेते हैं उनके शरीर को काटने पर भी कोई पीड़ा और दुःख नहीं होता।

अब अपनी बात हैं - जिनके भीतर राग पड़ा हुआ है, वे शरीर से जुड़े हुए हैं। जो गीलापन है, वही राग है। जिन्होंने शरीर को ही अपना होना मान रखा है, उनका शरीर आत्मा का अलग-अलग अस्तित्व होने पर भी वे एक अनुभव करते हैं। वे शरीर के मरण से अपना मरण शरीर की उत्पत्ति से अपनी उत्पत्ति मानते हैं। वे शरीर की पीड़ा को अपनी पीड़ा मानते हैं। ऐसा ही उनके अनुभव में आता है। हमें शरीर ही दिखाई देता है। वह जो भीतर है, वह इस तरह से जुड़ा हुआ है कि उसका हमें पता भी नहीं है। संसार के अनेको उदाहरण हैं, बादाम का ऊपर का काठ अलग है। भीतर भी एक पतला छिलका है, जो गर्म पानी में डालने पर अलग होता है और गिरी अलग है। इसी प्रकार चेतन आत्मा अलग है। शरीर ऊपर का काठ सदृश्य है, और राग आदि भीतर का छिलका है। जो तपस्यारूपी अग्नि में तपाने पर अलग होता है। आत्मा उन सबसे अलग है। इसी प्रकार पिश्ता है, मूंगफली है, सबमें ऐसा ही है। उनको देखकर हमें अपने भीतर का भेद समझ में आ सकता है। गिरी को ग्रहण करना है, और बाकी छोड़ देना है। वहाँ पर ग्रहण करने वाला तीसरा व्यक्ति है, परन्तु आत्मा के विषय में तो वह आप ही अपने को अपने रूप देखने वाला है।

राजगृह के तीन मित्र

राजगृह नगरी में तीन मित्र थे। उन्होंने यह निश्चित किया कि जिसको पहले वैराग्य होगा, वह बाकी दो को खबर कर देगा। संयोग से उनमें से एक को वैराग्य हो गया। वह घर का त्याग करके साधु होने को जाने लगा। वह अपने पहले मित्र के पास गया। वह मित्र राजगृह नगरी का सबसे बड़ा धन कुबेर था। तिजोरी खुली हुई थी। लाखों मोहरे पड़ी हुई थी। लेन-देन चालू था। उसी समय वह मित्र आया, और अपने मित्र से बोला कि मैं तो जा रहा हूँ, उस धन कुबेर मित्र ने कहा - चलो मैं भी चलता हूँ - पहले मित्र ने कहा कि इन सबको किसी को सँभला देवों, फिर चलो। उसने कहा कि यह तो पहले भी मेरा नहीं था, अब भी मेरा नहीं हैं। जिसका होगा वह जाने, मेरा अपना तो अपने सिवाय कुछ था ही नहीं। वह मित्र सब कुछ वैसे ही छोड़कर उसके साथ चल पड़ा। वह दोनों अपने तीसरे मित्र के पास पहुंचे। उस दिन उसकी शादी हुई थी, नई पत्नी घर पर आई थी। उन दोनों ने उसको पुकारा। वह नीचे आया। उन दोनों ने कहा कि हम दोनों तो गृहस्थी का त्याग करके जा रहे हैं। उसने कहा कि मैं भी चला। उन दोनों ने कहा-भीतर जाकर कह तो आ। उसने कहा जो मेरे भीतर हैं उसको पूछ लिया, मकान के भीतर मेरा अपना कोई नहीं है, किससे पूछूं ? तीनों मित्रों ने जंगल में जाकर आचार्य के पास मुनि दीक्षा ले ली।

अब अपनी बात हैं। जिन्होंने अपने एक अकेले चेतन्य के अलावा पर में स्त्री-पुत्रादि, धन आदि, शरीर आदि में अपना-पना मान रखा है, उनको छोड़ने में कठिनाई होती है, और छोड़ने पर भी भीतर से अपना-पना नहीं छूट पाता। इसलिये वे तो बंधे हुए ही हैं। परन्तु जिन्होंने अपने आप को पर से भिन्न जान लिया है। उनके लिये उनकी दुकान धन-दौलत उनका नहीं है। स्त्री-पुत्र आदि भी पर हैं। एक मेले में अथवा धर्मशाला में इकट्ठे ठहरे हुए हैं। बंधे हुए नहीं हैं, छुटे हुए ही हैं। अतः भीतर से तो अपना पना नहीं हैं। बाहर से धागा जुड़ा था, उसको तोड़ने में कोई अड़चन नहीं होती। मात्र मौका मिलना चाहिये। हम भी ग्रहस्थ में रहते हुए अपने आप को सबसे अछूता रख सकते हैं। इसी का नाम घर में बैरागी हैं।

उस बौझों को उतार क्यों नहीं देते ?

दो साधु नदी पार कर रहे थे। एक वृद्ध था और एक जवान था। नदी में पानी कुछ ज्यादा था। एक जवान लड़की भी नदी पार करना चाहती थी, परन्तु डर के मारे पार नहीं कर रही थी। रात्रि का समय आने वाला था। उस लड़की ने साधु से विनती की कि मुझे सहारा देकर नदी पार करवा दो। पहले वाला वृद्ध साधु बात को सुनी-अनसुनी करके आगे बढ़ गया। उस लड़की ने दूसरे जवान साधु से भी विनती करी, उसने उस लड़की को अपने कन्धे पर बैठा लिया, और नदी पार करा दी। पहले वाले साधु ने पीछे घूमकर देखा और उसके तन बदन में आग लग गयी कि इस साधु ने स्त्री का स्पर्श कैसे कर लिया ? यह तो भ्रष्ट हो गया। मैं संघ में जाकर आचार्य से कहकर इसका बहिष्कार कराकर दण्ड दिलाऊँगा। दूसरे वाला साधु उस लड़की को उस पार जाकर किनारे पर उतार कर जब आश्रम में गया तो वृद्ध साधु सबसे वही बात कह रहा था। इस साधु ने कहा कि मैं तो उस लड़की को किनारे पर उतार आया। आपने अभी तक उसको अपने मन में बैठा रखी हैं। उस बौझों को क्यों लिये हुए हैं ? उसको उतार क्यों नहीं देते ?

अब अपनी बात हैं। हम भी दस-बीस वर्ष का बौझा अपने मन पर लिये घूमते हैं। किसी ने कभी कुछ कहा था, अब वह आदमी भी नहीं रहा, परन्तु अपने आप पर उस बात का बोझा, उस अपने कषाय परिणामों का बोझा कितने ही वर्षों तक लिये रहते हैं, और उसको याद कर-करके अपने परिणामों को कषायला करते रहते हैं, और अपने को दुःखी बनाते रहते हैं। कभी भी अपने मन से उस बौझों को नहीं उतारते, जिससे मन शान्त हो जाता, और अपने ही द्वारा अपने को दुःखी बनाना मिट जाता।

पुरानी यादगार

एक बार पूज्य वर्णी जी सम्मेद शिखर जी से गिरीडीह जा रहे थे। पैरों से चला नहीं जा रहा था। एक पीछे से धक्का देकर चलाने वाली आधी साइकिल मँगाई गई थी। क्योंकि वर्णी जी सवारी गाड़ी पर नहीं चढ़ते थे। मैं करीब साढ़े नौ बजे सवेरे सम्मेद शिखर जी पहुँचा। उसी समय उनके चलने का समय हो गया। काफी दूर चलना था। मैं भी बिना पूजा-पाठ किये उनके साथ चल दिया। साथ में कई आदमी थे। कुछ आगे

जाने पर उन्होंने कहा कि भइया ! तुम वापस चले जावो। इतनी दूर आ गये हो। वापिस इतनी दूर जाना होगा। मैंने कहा अभी आपके साथ चल रहे हैं। करीब एक-डेढ़ किलोमीटर आने पर वे रुक गये और कहा कि तुम वापस नहीं जावोगे तो हम लोग आगे नहीं जायेगे। मैंने जरा ताव से कहा कि आपके पीछे-पीछे चलते हैं। वह भी आपको मंजूर नहीं हैं। उन्होंने कहने का भाव समझ लिया और बोले कि मैं कब कहता हूं कि मेरे पीछे-पीछे चलो। मैं तो कहता हूं मेरे आगे जावो।-मेरे को तुम्हारे आगे जाने से ज्यादा प्रशन्नता होगी।

अब अपनी बात हैं - संसार मार्ग में व्यक्ति दूसरों से आगे बढ़ना चाहता हैं - आगे चलने वाले को नीचे गिराना चाहता हैं। परन्तु मोक्ष मार्ग या त्याग मार्ग में व्यक्ति दूसरे को आगे बढ़ाना चाहता हैं। शिष्य भी गुरु से आगे बढ़ता हैं, तो गुरु की प्रशन्नता का कोई ठिकाना नहीं रहता। वह दूसरे को हाथ का सहारा देकर अपने से आगे बढ़ाता हैं। उसका हर्ष वहीं जानता हैं। दूसरे को मोक्ष मार्ग में चलने के लिये वह सब कुछ कर सकता हैं।

पगड़ी के दाम

एक आदमी अपनी कहानी कह रहा था। कि जब मैं जवान था तब एक राजा की राजधानी में गया, और एक चमकदार रंगीन पगड़ी खरीदी, और राज दरबार में लेकर गया। राजा की आँख उस पगड़ी पर पड़ी। उसने पूछा-कितने में बेचनी हैं ? मैंने कहा पाँच हजार में बेचनी हैं। राजा के कुछ कहने के पहले ही वजीर ने झुककर राजा के कान में कहा कि सावधान आदमी धोखेबाज मालूम होता हैं। पाँच-दश रुपये की पगड़ी के पाँच हजार मांग रहा है। मैं समझ गया कि वजीर क्या कह रहा है। मैं राजी खुशी हारने वाला नहीं था। मैं वापिस आने लगा, और राजा से कहा कि मेरी पत्नी ने तो पहले ही कहा था कि राजा कदरदान नहीं हैं, केवल एक पड़ोसी राजा ही ऐसा हैं जो इसके पचास हजार दे सकता है। मैं उसी राजा की खोज में निकला था। मैं जा रहा हूं। यह वह जगह नहीं हैं। उस राजा ने कहा कि पगड़ी रख दो और पचास हजार रुपये ले जावो। दरवाजे पर वजीर मिला और उसने कहा कि तुमने तो हद कर दी। मैंने कहा कि मुझे आदमियों कि कमजोरियों का पता है। मुझे उस अहम् का पता है। जिसको छू दो तो आदमी घूमने लगता है।

अब अपनी बात हैं। यह व्यक्ति अपने अहंकार से बंधा है, और जो व्यक्ति अपने अहंकार से बंधा है वह सब तरह से बंधा है। अपने अहंकार पर चोट होते ही यह उस अहंकार की रक्षा करने को सबकुछ करने को तैयार हो जाता है, सबकुछ देने को तैयार हो जाता है। सबकुछ देकर उस अहंकार की रक्षा करता है। यह जो कुछ करता है, धर्म अथवा कर्म मात्र अपने अहंकार का पोषण करता है। यही अहंकार उसकी रोटि है। उसी अहंकार में उत्पन्न हुआ है, और उसी अहंकार में मर जाता है। बाहर में हम उसका नाम धर्म भी रख देते हैं। अतः देखा जावे तो एक ही पूजा हैं, एक ही धर्म है। इस अहंकार से मुक्त होना। जिस हृदय में अहंकार नहीं वही मंदिर हैं।

मेरी पुरानी यादगार

बहुत वर्ष पहले की बात है। मैं और पूज्य वर्णी जी ईसरी से नीमिया घाट जा रहे थे। रास्ते में पूज्य वर्णी जी थक गये। वृद्ध अवस्था थी, पैरों में दर्द था। बोले-भैया ! कहीं पर बैठ जावें। वही पर एक छोटा सा गाँव था। एक मकान के सामने एक तख्ता बैठने का पड़ा था। मकान वालों से पूछकर उस तख्ते को सीधा कर दिया। और पूज्य वर्णी जी उस पर बैठ गये। साधु का रूप देखकर गाँव की कुछ औरते भी आ गईं। पूज्य वर्णी जी ने उनसे कहा-बेटा ! मछली तो नहीं खाती हो न ? उन्होंने हाँ कहा। इस पर वर्णी जी ने कहा-उसमें आपके हमारे जैसा ही जीव होता हैं, वह भी दुःख-सुख का अनुभव करता हैं, उसको भी कष्ट होता हैं। अतः मछली अथवा मांस नहीं खाना चाहिए। मांस भी किसी जीव के शरीर का ही टुकड़ा होता हैं। उसमें और हमारे में क्या अन्तर हैं ? वे छोटे जीव तो अपना दुःख दर्द भी प्रकट नहीं कर सकते। हम तो हमारे दुःख को रो-पीटकर कह तो देते हैं।

वर्णी जी की बात उन औरतों को समझ में आ गई। दस-बारह औरते थी। उन्होंने मछली खाने का त्याग कर दिया। वहा से चले तो मैंने पूज्य वर्णी जी को कहा कि महाराज ! हम गला फाड़-फाड़ कर रोज कहते हैं, कोई त्याग नहीं करता, परन्तु आप के जरा सा कहते ही इन्होंने त्याग कर दिया। यह आपके परिणामों की निर्मलता का असर हैं।

अब अपनी बात हैं। वास्तव में कहने वाले के सरल परिणामों का असर सामने वाले पर भी पड़ता है, अगर हमारे परिणामों में कटुता होगी, सरलता नहीं होगी, मान कषाय होगी तो उसका असर नहीं होता। छोटे बच्चे में ऐसी बातें नहीं होती, इसीलिये उसकी बातें सुहावनी लगती हैं।

परमात्मा की खोज

जन्मों-जन्मों तक हमने परमात्मा को खोजा; न मिला - बड़ी बेचैनी रही। परमात्मा को खोजने में अहंकार को बड़ी तृप्ति मिलती है। हम सिर्फ खोजना ही चाहते हैं, परमात्मा होना नहीं चाहते। कठिन से कठिन यात्रा करके भी वहाँ पहुँचना चाहते हैं। कुछ उसी तरह जैसे कि लोग हिमालय की उँची से उँची चोटी पर चढ़ना चाहते हैं - वह भी मात्र अहंकार की तृप्ति के लिये ही। पहुँचकर अगर दिखाई पड़ा कि कोई दूसरा हमसे पहले ही वहाँ पहुँच गया है तो अपने अहंकार पर चोट लगती है। हम ही अगर पहले पहुँचे, तो भी मिला क्या? मात्र अहंकार की तृप्ति ही न ! परमात्मा की खोज के पीछे कहीं हमारा भी ऐसा ही अभिप्राय तो नहीं है?

कदाचित् यह जीव खोजते-खोजते कभी परमात्मा के दरवाजे पर ही पहुँच जाए और इसकी समझ में आए कि परमात्मा यहीं है, तो बड़े भारी असमंजस में पड़ जाएगा यह। सोचेगा कि कहीं वह मिल गया तो फिर ? सोचते-सोचते इसको परीना छूटने लगेगा। 'कहीं उसे खबर न हो जाए' यह सोचकर, जूते हाथों में लेकर, बिना आवाज़ किये, सीढ़ियों से उतरकर भागेगा - ऐसा भागेगा कि पीछे मुड़कर भी न देखेगा।

इस सबके बावजूद भी हम परमात्मा की खोज में लगे हुए हैं। जानते हैं कि वह कहाँ हैं। बस, वहीं नहीं खोजते।

अब अपनी बात हैं। इस जगत में कुछ गिने-चुने ही व्यक्ति हैं जो परमात्मा होना चाहते हैं और अपने परमात्मा को 'निज' में, अंतरंग में, खोजने की चेष्टा करते हैं - जहाँ कि वह वास्तव में है। बाकी सब तो परमात्मा को खोजते हैं, खोजने के लिये, परमात्मा बनने के लिये नहीं। और, वे अपनी उस खोज में ही संतुष्ट हैं। यदि परमात्मा सामने भी आ जाए तो आँख चुराकर भाग जाएंगे, क्योंकि उसके समक्ष जाने को कोई तैयार नहीं है।

यह उसकी समस्या है

एक बिल्डिंग में दो आदमी रहते थे। उनके फ्लैट्स अलग-अलग मंजिलों पर थे। शाम के समय अक्सर एक ही वक्त अपने-अपने ऑफिस से लौटते और लिफ्ट में सवार होते। पहले आदमी का फ्लैट पाँचवीं मंजिल पर था। जैसे ही लिफ्ट पाँचवीं मंजिल पर रुकती, दरवाजा खुलता, वह उतरने के लिये आगे बढ़ता, फिर वापस मुड़कर दूसरे आदमी के ऊपर थूकता और लिफ्ट से उतरकर चला जाता। दूसरा व्यक्ति चुपचाप रुमाल निकालता, अपना चेहरा पोंछ लेता, कोट पर पड़ा थूक पोंछता, फिर आठवीं मंजिल पर उतरने की तैयारी करने लगता। रोज़-ब-रोज़ ऐसा होते देखकर, एक दिन लिफ्टमैन से नहीं रहा गया। उस दिन आठवीं मंजिल पर जब दूसरा व्यक्ति उतरने ही वाला था तब लिफ्टमैन ने आखिर पूछ ही लिया - यह क्या मामला है, साहब ? यह आदमी ऐसा क्यों करता है ? उस व्यक्ति ने उत्तर दिया - उसी से पूछो, यह उसी की समस्या है, मेरा इसमें कोई हाथ नहीं है। कोई-न-कोई पागलपन उस पर सवार होगा। मेरा तो कुछ नहीं बिगड़ता, रुमाल निकालकर पोंछ लेता हूँ, असली तकलीफ़ तो वही पाता है - थूकने से पहले तकलीफ़ पाता है, थूकने के वक्त तकलीफ़ पाता है, और थूकने के बाद भी तकलीफ़ पाता होगा। इसलिये यह समस्या तो उसकी है, हम तो सिर्फ दर्शक हैं।

अब अपनी बात करते हैं। समस्त बाहरी घटनाओं को इस प्रकार देखने की कला हमें यदि आ जाए तो फिर कोई हमें दुखी नहीं कर सकता। दूसरा कुछ देता है, यह उसका काम है - उसे लेना या न लेना, यह हमारा काम है। देना उसको दिखाता है, लेना हमको दिखाता है। देना उसके आधीन है, लेना हमारे आधीन है। वह क्या देता है, यह उसकी बात है - हम क्या लेते हैं, यह हमारी बात है। अगर दूसरा गाली देता है तो यह उसकी समस्या है, हम क्या लेते हैं वह हमारी समस्या है। न तो देने वाला ही लेने वाले के आधीन है, और न लेने वाला ही देने वाले के आधीन वस्तुतः दोनों स्वाधीन हैं और दोनों की समस्या अपनी-अपनी है।



~

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल की कार्यकारिणी

संरक्षक

(i) सर्वश्री पद्म प्रसादजी (टिटोडे वाले)

(ii) श्री त्रिलोक चन्द (पटवारीजी)

(iii) श्री नरेन्द्र कुमार जैन सर्राफ

अध्यक्ष

अजय कुमारजी

मंत्री

रमेश चन्द जैन

उपमंत्री

पंकज कुमार जैन सर्राफ

कोषाध्यक्ष

संदीप जैन

आडिटर

अमित कुमार जैन

प्रचार मंत्री

राजकुमार जैन

सदस्य गण

1. पं. प्रदीप कुमार जैन शास्त्री (धामपुर)
2. सुभाष चन्द जैन
3. अशोक कुमार जैन एल.आई.सी.
4. अंकित कुमार जैन
5. सुशील कुमार जैन
6. मदन कुमार जैन
7. श्रीमति रीता जैन धर्मपति श्री प्रेम चन्द जैन
8. श्रीमति कुसुम जैन धर्मपति श्री सतेन्द्र जैन
9. श्रीमति बिमला जैन धर्मपति श्री पवन कुमार जैन
10. श्रीमति शारदा जैन धर्मपति श्री हितेश चन्द जैन
11. श्रीमति कमलेश जैन धर्मपति श्री स्व० जिमेन्द्र कुमार जैन
12. श्रीमति मन्जु जैन धर्मपति श्री अनिल कुमार जैन
13. श्रीमति ऊषा जैन धर्मपति श्री जिनेन्द्र कुमार जैन
14. श्रीमति पुष्पा जैन धर्मपति श्री पवन कुमार जैन
15. श्रीमति आभा जैन धर्मपत्नी श्री आदीश कुमार जैन
16. श्रीमति कौशल जैन धर्मपत्नी श्री धर्मेन्द्र कुमार जैन
17. श्रीमति रजनी जैन धर्मपत्नी श्री प्रेम चन्द जैन
18. श्रीमति अनिता जैन धर्मपत्नी श्री अशोक कुमार जैन
19. कु० पारूल जैन पुत्री स्व० श्री जिमेन्द्र कुमार जैन
20. श्रीमति श्रद्धा जैन धर्मपति श्री संजय कुमार जैन रामपुर मनिहारान
21. श्रीमति संगीता जैन धर्मपति श्री अनुज जैन देवबन्द
22. श्रीमति त्रिशला जैन धर्मपति श्री रतनलालजी
23. श्रीमति सावित्री जैन धर्मपति स्व० श्री भानू कुमार जी
24. श्रीमति मीना जैन धर्मपति श्री राजेन्द्र कुमार जैन
25. कु. प्रिया जैन पुत्री श्री आदीश कुमार जैन

भाईयो ! वर्तमान समसामयिक, वैमनस्ययुक्त सामाजिक पारिवेश, भौतिकवादितायुक्त संस्कृति, हासोन्मुख नैतिकता की उन्नति और विकास के लिये, साथ ही साथ जिनमंदिरों के निर्माण के साथ चेतन मंदिरों का निर्माण करे ।

इसी सन्दर्भ में खतौली जैन समाज को तन, मन, धन व निस्वार्थभाव से चेतन मंदिरों के निर्माण एवं जैन संस्कृति की सुरक्षा, आत्मव्यापार, संयम, तत्व चिंतन व सदाचार की प्रेरणा देती हुयी सदा जागरूक वीतराग विज्ञान पाठशाला ।

स्थापित : 1975

संस्थापक एवं संचालक : रमेश चन्द जैन

स्थान : श्री दिगम्बर जैन मंदिर, पीसनोपाड़ा, खतौली ।



वीतराग विज्ञान पाठशाला के बच्चों को पढ़ाते हुये आभा दीदी एवं रमेश चाचाजी



वीतराग विज्ञान पाठशाला के बच्चे पूजन सीखते हुये

आपके बच्चे भविष्य एवं राष्ट्र की भरोहर है । इनका चरुमुखी विकास करना हमारा कर्तव्य ही नहीं, दायित्व भी है ।

संयोजक :

अखिल भारतीय जैन

युवा फेडरेशन, खतौली

अध्यक्ष : सुभाष चन्द जैन

मंत्री : अशोक कुमार जैन

कोषाध्यक्ष : आदीश कुमार जैन